प्राकृतिक स्वास्थ्य

और

दीर्घ जीवन

लेखकः—

श्रीयुत ठाकुरदास जी,

हल्दौर, (जि० बिजनौर)

प्रथम बार]		[मूल्य ८ आना

विषयानुक्रमणिका

(८) आहार—

प्राक्कथन

स्वास्थ्य-विद्या का ज्ञान सब मनुष्यों के लिये नितान्त आवश्यक और अनिवार्य है। इस ज्ञान के बिना मनुष्यों से अपने जीवन-निर्वाह और आहार व्यवहार में भारी भूलें होती हैं, जिनके परिणाम-स्वरूप उनको नाना प्रकार के रोग घसते हैं और वे अपनी पूरी आयु के पहुँचने से पूर्व ही मृत्यु के मुख में चले जाते हैं। अतः स्वास्थ्य-विद्या के ग्रन्थों की सब भाषाओं में बड़ी आवश्यकता है।

अब तक स्वास्थ्य-विषय पर जो पुस्तकें लिखी जाती रही हैं, उनका आधार पुरानी औषधि-चिकित्सा-प्रणाली (मेडिकल साइंस) पर ही था। किन्तु पाश्चात्य विचारकों (मुनियों) द्वारा प्राकृतिक-चिकित्सा के सिद्धान्तों के आविष्कार, अनुभव और प्रचार के साथ साथ स्वास्थ्य-विद्या ने अब नवीन रूप धारण कर लिया है। अंग्रेज़ी आदि योरुप की समृद्ध भाषाओं में तो इस विषय के ग्रन्थों का प्राचुर्य है। किन्तु हिन्दी में प्राकृतिक स्वास्थ्य-विद्या पर अभी बहुत कम पुस्तकें लिखी गई हैं।

मेरा शरीर भी स्वास्थ्य-विद्या के अज्ञान के ही कारण विविध व्याधियों का वास-स्थान बना रहा था—और कठोर कष्ट सहता रहा था। ज्यों ज्यों मुझको नवाविष्कृत स्वास्थ्य-विद्या के सिद्धान्तों का ज्ञान होता गया और मैं प्राकृतिक चिकित्सा-प्रणाली

का अवलम्बन करके प्रकृति-माता की शरण में अधिकाधिक जाता रहा, त्यों त्यों उन रोगों और कष्टों से भी मेरा त्राण होता गया। मेरे तुल्य ही कितने ही नर-नारी इन सिद्धान्तों के अज्ञान से रोगी होते और दुःख उठाते हैं। उनको स्वास्थ्य-विद्या का यथार्थ ज्ञान हो जाए तो उनका बहुत उपकार हो सकता है।

जब से मेरी अति-रुग्णावस्था को प्राकृतिक साधनों से लोगों ने सुधरा हुआ देखा, तब से मेरे कई कृपालु सज्जनों का यह अनुरोध था कि मैं अपनी विज्ञात और अनुभूत स्वास्थ्य-सरणि और प्राकृतिक चिकित्सा-प्रणाली को इस देश की साधारण जनता के जान सकने के लिये हिन्दी भाषा में लिख दूं।

अन्य कार्यों में लगे रहने के कारण मुझको इस कार्य के लिये समय न मिल सका, किन्तु राजनीतिक आन्दोलन की भारत-राष्ट्रीय-सेवा के पुरस्कार-स्वरूप एक वर्ष का कारावास मिलने पर, मुरादाबाद जेल में मुझे उक्त कार्य के लिये पर्याप्त अवकाश मिल गया। वहां ही रह कर मैं यह पुस्तक लिख सका हूं।

मुझको पुस्तक लिखने का अभ्यास और अनुभव नहीं था। इसकी भाषा को सुधारने में मेरे प्रिय भाई, साहित्य-सेवी और सुलेखक श्री० पं० भवानीप्रसाद जी ने बड़ा परिश्रम किया है। उनके संशोधन के बिना इस पुस्तक की भाषा ऐसी सुन्दर न होती। इसकी स्वच्छ कापी करने का कार्य उनकी सुपुत्री कुमारी भद्रशीलादेवी विद्याविनोदिनी जी ने अपने विद्योपार्जन का

अमूल्य समय लगा कर किया है। अतः उनकी सहायता के लिये मैं बहुत कृतज्ञ हूं।

मेरे प्राकृतिक चिकत्सा-ज्ञान का आधार अधोलिखित पुस्तकें हैं :—

(1) Eating to Banish Disease and to Save Civilisation., by Dr. James Raymond Devereux.

(2) New Hygiene, a Drugless Remedy of all Diseases., by Dr. Wilson.

(3) Encyclopaedia of Physical Culture., by Dr. Macfadon.

(4) Philosophy and Practice of Nature Cure., by Dr. Lindlahr.

अतः इन पुस्तकों के रचयिता डाक्टर महाशयों का मैं बहुत उपकार मानता हूं।

मेरी इच्छानुसार यह पुस्तक शीघ्र न छप सकी। इसके छपवाने और पाठकों तक पहुँचाने का कार्य जिस सज्जन ने अपने ऊपर लिया था वह टालमटोल करके समय बिताते रहे और मैं सन् १९३२ के राजनैतिक आंदोलन में एक वर्ष के लिये पुनः जेलमें बन्द कर दिया गया। वहां से छूट कर दूसरा प्रबन्ध किया, तब यह छप सकी है। अब इसके छपवाने और प्रूफ़-शोधन का कार्य श्री० पं० रामगोपाल जी विद्यालंकार ने किया है।

अतः मैं इनका भी आभारी हूं। खेद है कि पुस्तक में अशुद्धियां रह ही गईं। पुस्तक के आरम्भ में शुद्धि-पत्र लगा दिया है। पाठक महाशय कृपा करके पुस्तक पढ़ने से पहले ही शुद्धि-पत्र के अनुसार पुस्तक में अशुद्धियों का शोधन करलें, जिससे पुस्तक के मतलब को समझने में भ्रम की सम्भावना न रहे। कुछ साधारण त्रुटियां, जैसे उर्दू शब्दों में क़, ग़, ज़ आदि के नीचे नुक़्ता कहीं कहीं नहीं छप सके हैं, शुद्धि-पत्र में नहीं दी गई हैं। इन्हें पाठक अनायास जान लेंगे और भाव के समझने में रुकावट नहीं पड़ेगी।

हन्दौर,
१४ फरवरी १९३३ ई०

जगन्मङ्गलार्थी :—
ठाकुरदास।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६	११	गुर्दे	गुर्दे
१६	१३	जाड़ों	जोड़ों
१६	१६	वही	वह
२३	१	छिलके	इस
२५	१७	विवक	विवेक
३१	१८	वह	वह
५२	१३	वाले	वाला
८०	६	ही	भी
८६	१७	करना	करता
१०३	१	बकरी	गौ वा बकरी
११२	२१	रुघिर	रुधिर

—:—

प्राकृतिक स्वास्थ्य

और

दीर्घ जीवन

ग्रन्थ — लेखक
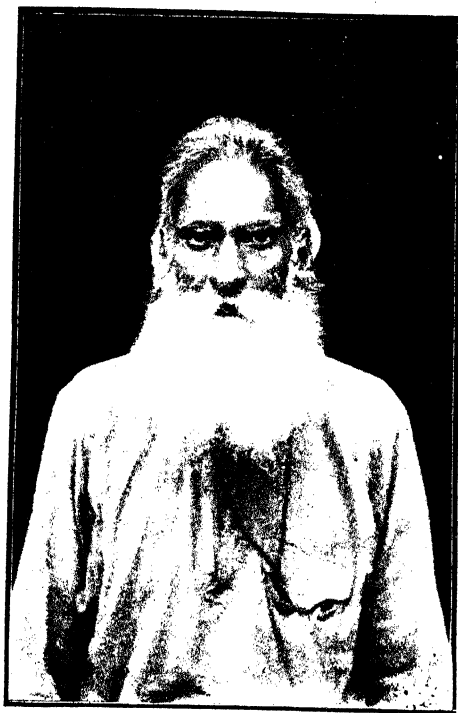
श्री० ठाकुरदास जी

मनुष्य की श्रेष्ठता और स्वतंत्रता

परम पिता परमात्मा की इस अनंत और अद्भुत सृष्टि में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। उसकी सर्वश्रेष्ठता उसकी काया के डील-डौल, बल और सौन्दर्य आदि से नहीं है। इन गुणों में तो और-और प्राणी भी उससे बढ़े-चढ़े हैं। ईश्वर ने बड़ी दया करके मनुष्य को सदसद्-विवेकिनी बुद्धि और कर्म की स्वतन्त्रता प्रदान की है, इसी में मनुष्य-जाति की सर्वश्रेष्ठता है। अन्यान्य प्राणियों, जीव जन्तुओं को ये गुण नहीं मिले हैं। वे

स्वतन्त्र-योनि नहीं हैं, भोग-योनि हैं। उनका आहार-व्यवहार जैसा निर्दिष्ट कर दिया गया है, वे उसका उल्लंघन नहीं कर सकते। किन्तु मनुष्य ईश्वर-प्रदत्त स्वाधीनता के कारण, जहाँ वह अनेक प्रकार के ज्ञान-विज्ञान उपार्जन कर अपना और सर्व-प्राणियों का कल्याण करके, अपने मनुष्यत्व को सार्थक कर सकता है, वहाँ इसके विपरीत अज्ञान और मोह से वह अपना और दूसरों का अनिष्ट भी कर सकता है।

मनुष्य की आयु और स्वास्थ्य

संसार में जितने प्राणी हैं, उनकी आयु भिन्न-भिन्न और नियत हैं। सब प्राणी प्रायः अपनी पूर्ण आयु भोगकर मरते हैं, और समस्त जीवन में अधिकांश नीरोग और स्वस्थ रहते हैं, किन्तु मनुष्यों की ऐसी दशा नहीं है। वे मिथ्या और अस्वाभाविक आहार-व्यवहार को स्वीकार करके अपने शरीर को नाना रोगों का स्थान और जीवन को दुःखमय बना लेते हैं और बहुधा पूरी आयु न भोगकर पहिले ही मर जाते हैं।

इस देश में यह विश्वास बद्ध-मूल है कि जब निर्दिष्ट समय आता है, तब ही मृत्यु होती है। इस विश्वास ने बहुत भ्रम फैलाया है। सचाई तो यह है कि जैसे मनुष्य को अन्य सांसारिक तथा पारमार्थिक हितों के लिए पुरुषार्थ आवश्यक है, बिना पुरुषार्थ के उसे कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता, वैसे ही उसकी आयु का

पूर्ण होना और जीवन-भर स्वस्थ रहना भी उसी के पुरुषार्थ और प्रयत्न पर निर्भर है।

मनुष्य का शरीर स्वस्थ रहे, तो उसकी आयु सौ वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए; अधिक हो सकती है। हमारे धर्म और इतिहास-ग्रन्थों में मनुष्य को "शतायुः" कहा गया है। हम सन्ध्या में नित्य "जीवेम शरदः शतं········भूयश्च शरदः शतात्" इस वेद-मन्त्र द्वारा सौ या उससे अधिक वर्ष जीवित रहने की प्रार्थना करते हैं।

फिर मनुष्यों का स्वास्थ्य क्यों बिगडता और आयु क्यों घटती जा रही है ? अपने ही मिथ्या आहार-व्यवहार के कारण। "आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः" भगवान् श्रीकृष्ण का उपदेश है।

रोगों के होने से आयु तो क्षीण होती ही है, किन्तु वह अल्प आयु भी सुखमय नहीं होती; दुःख से ही जीवन कटता है। कितनी ही संपत्ति पास हो, मनुष्य को स्वस्थता बिना आनन्द नहीं मिलता। स्वस्थ रहते हुए निर्धन भी सुखी रहता है। अतः मनुष्य का परम धर्म है कि अपने शरीर को स्वस्थ रक्खे और जीवन को आनन्दमय बनाकर अपनी आयु को कम न होने दे।

स्वस्थ और नीरोग रहने के लिए बहुत प्रयत्न किए जा रहे हैं। सर्वत्र अनेक बड़े-बड़े डाक्टर, हकीम और वैद्य विद्यमान

हैं, पुष्कल धन लगाकर विशाल औषधालय और चिकित्सालय (मेडिकल हाल) खोले गए हैं। ये प्रत्येक रोग का सामना करने के लिए सदैव सन्नद्ध रहते हैं। जहाँ रोग हुआ, ये उसको धर दबाते हैं। कहा जा सकता है और इनको अभिमान भी है कि इन्होंने रोगों पर विजय पा ली है, किन्तु इससे मनुष्यों के स्वास्थ्य या आयु की दीर्घता में कुछ भी उन्नति नहीं हुई। दिन-प्रति-दिन लोगों की अस्वस्थता और रोग बढ़ते ही जाते हैं। आज-कल ऐसे सौभाग्यवान् नर-नारी बिरले ही मिलेंगे, जो सर्वथा स्वस्थ हों। जिसे देखो, वही प्रायः किसी-न-किसी रोग से पीड़ित दीखता है। प्रतिश्याय (जुकाम-नज़ला) और कास (खाँसी) का प्रकोप (शिकायत) तो साधारण बात है। कोष्ठबद्ध (कब्ज) और अजीर्ण (बदहज़मी) सर्वव्यापक बन रहे हैं। कितने ही लोग युवावस्था में ही आमवात (गठिया), अर्श (बवासीर) आदि भयंकर रोगों के शिकार बन जाते हैं।

प्राकृतिक चिकित्सा का आविर्भाव

गत शताब्दी में जर्मनी और अमेरिका में डाक्टरों में ऐसे विचारकों का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने मनुष्य-जाति के स्वास्थ्य की इस दुर्दशा पर दृष्टि डाली और मनन करके ऐसे सिद्धान्त सोच निकाले, जो उस समय के वहाँ के डाक्टरों को नहीं सूझे थे। ये सिद्धान्त बड़े सरल और प्राकृतिक हैं। उन पर चलने से

मनुष्य नीरोग रहकर दीर्घजीवी हो सकता है। अमेरिका और योरप में अब अनेक डाक्टर और उनकी स्थापित संस्थाएँ उन सरल और स्वाभाविक सिद्धान्तों का प्रचार करके जनता को लाभ पहुँचा रहे हैं।

भारतवर्ष के लिये वे सिद्धान्त, इस समय तो कितने ही सज्जनों को नूतन प्रतीत होंगे; परन्तु वे वस्तुतः नवीन नहीं हैं। पुरा-काल में हमारे पूर्वज उन्हीं सिद्धान्तों पर चलकर स्वस्थ और दीर्घजीवी होते थे। किन्तु जैसे हम अपनी अन्य विद्याओं और विभूतियों को खो चुके हैं, वैसे ही अब हम उन बातों को भूल गये हैं। अतः अब इस देश में भी उन सिद्धान्तों के प्रचार की नितान्त आवश्यकता है। इस देश में भी सम्प्रति पश्चिमी डाक्टरी चिकित्सा (एलोपैथी Allopathy) का रिवाज बहुत बढ़ता जा रहा है। इसकी औषधियों में प्रायः एलकोहल (Alcohol) नामक एक प्रकार के मादक द्रव्य का मिश्रण रहता है, जो देह के सूक्ष्म अंगों पर बहुत बुरा प्रभाव डालता है और उसके योग से ये औषधियाँ तीक्ष्ण और उत्तेजक बनकर मानव-संस्थान को लाभ की अपेक्षा अनिष्टकारक अधिक होती हैं। रोग के होते ही इन दवाओं की भरमार आरंभ हो जाती है। एक-एक दो-दो घंटे की अवधि से इन दवाओं की मात्राएँ (खूराक-पर-खूराक) रोगी के पेट में उतारी जाती हैं। उससे

उपस्थित रोग तो जैसे-तैसे दब जाता है और लोग समझ लेते हैं कि वह अब चला गया है, किन्तु यह किसी घर में पड़े हुए मल को मिट्टी डालकर दबा देने के तुल्य ही होता है, जो वास्तविक स्वास्थ्य को पहिले से भी अधिक बिगाड़ देता है, और कालान्तर में अन्यान्य आपत्तियों का कारण होता है। हमारे वैद्यों और हकीमों की औषधि-चिकित्साएँ पहिले ऐसी हानिकर न थीं। वे रोग होने पर उसे तुरन्त दबाने की चेष्टा न करती थीं, किन्तु कुछ अवधि तक रोगी को उसी की प्रकृति (तबियत) पर छोड़ दिया जाता था या काष्ठादिक औषधियों का कोई सरल योग (सीधा-सादा नुस्खा) लिखकर दे दिया जाता था। उसमें दो-तीन साधारण-सी काष्ठादिक औषधियों को पानी में भिगोकर या पकाकर पी लेने का विधान होता था। एलोपैथिक चिकित्सा-प्रचार से लोगों में यह विचार जड़ पकड़ रहा है कि डाक्टरी दवाओं में पकाने-बनाने का झंझट नहीं, और न उस चिकित्सा में रोगी को तबियत पर छोड़कर कष्ट-सहन के लिये विवश किया जाता है, अपितु शीघ्र रोग जाता रहता है [दबा दिया जाता है]। देशी पुराने वैद्यों ने भी डाक्टरी की यह बढ़ती देख, और उससे अपने व्यवसाय और स्वार्थ पर धक्का लगता देखकर धीरे-धीरे अपना मार्ग बहुत बदल लिया है। वे भी अब प्रायः डाक्टरों का ही अनुकरण करने लगे हैं और रोगी को शीघ्र ही रोग-मुक्त करने

के लिये तथा उसकी आसानी के लिये अनेक प्रकार के संमिश्रण—अर्क़, गोली, चूर्ण, पाक, अवलेह आदि तैयार रखते हैं। इनकी बड़ी बिक्री होती है। इनका मूल्य लागत के हिसाब से कुछ मुनाफ़ा बढ़ाकर रखने पर ही सन्तोष नहीं किया जाता, किन्तु उन दवाओं की मनमानी उपयोगिता का विचार करके दस-दस गुना और सौ-सौ गुना मूल्य लिया जाता है। इससे धन-लाभ भी अधिक होने लगा है और अब एलोपैथिक मेडिकल हालों की भांति ही आयुर्वैदिक और यूनानी औषधियों से सजे सजाये अनेक विशाल भवन यत्र-तत्र खड़े हो गये हैं। जिनसे भोली-भाली जनता स्वास्थ्य के वास्तविक सिद्धान्तों के न जानने के कारण लुटती है और स्वास्थ्य-संप्राप्ति के वास्तविक लाभ से वंचित रहती है।

भारतवर्ष अधिकांश दीनों का देश है, जिनको अर्थकृच्छ्रता [गरीबी] के कारण दवाएं भी कठिनता से मिलती हैं। किंतु औषधियों से वास्तविक स्वास्थ्य-लाभ नहीं होता; इस बात का उन लोगों को ज्ञान ही नहीं है।

यदि प्राकृतिक स्वास्थ्य-शास्त्र का यथार्थ ज्ञान प्रचार पा जाय तो इस देश की साधारण जनता स्वस्थ और निरोग रहने के सरल और प्राकृतिक साधनों का अवलम्ब करके, अपना बहुत हित कर सकती है। जहां उसे सच्चा स्वास्थ्य, सुख और दीर्घ

जीवन मिलेगा, वहां उसका धन भी इन दवाओं के इलाज में नष्ट होने से बचेगा।

प्राकृतिक चिकित्सा का सिद्धान्त

प्राकृतिक चिकित्सकों का यह सिद्धान्त है कि अस्वस्थता और रोग प्राकृतिक नियमों की अवहेलना और उल्लंघन से ही उत्पन्न होते हैं। प्रकृति बड़ी प्रवीण और दयालु माता है, उसने प्राणियों के देह-रूपी ऐसे अद्भुत यन्त्रों [मशीनों] को जन्म दिया है कि यदि मनुष्यों का आहार-व्यवहार प्राकृतिक रचना के अनुकूल रहे, तो वे रोगी न हों और पूर्ण आयु भोगें। मनुष्येतर सब जीव-जन्तु स्वभावतः ही प्राकृतिक जीवन पर आरूढ़ हैं, इसीलिये वे प्रायः नीरोग रहते और पूर्ण आयु पाते हैं।

परन्तु मनुष्य अपनी उच्छृङ्खलता-वश प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करते रहते हैं और उसके फल-स्वरूप दुःख भोगते हैं। प्रकृति अपने नियमों में सुदृढ़ और उसके पालन कराने में बड़ी कठोर है। मनुष्यों के बनाये राज-नियमों से तो हम किसी-न-किसी प्रकार बच भी सकते हैं, परन्तु प्रकृति के नियमों को उल्लंघन करके हम उसके दण्ड से कदापि नहीं बच सकते। प्रकृति के शासन में नियमों का ज्ञान न होने का उज्र भी नहीं सुना जाता। उसका शासन अटल है। अज्ञ बालक आग पर

हाथ रख दे तो अवश्य ही जलेगा; अतः प्राकृतिक नियमों का जानना और उन पर चलना नितान्त आवश्यक है। प्रकृति के अभिमत आहार-व्यवहार पर चलने से ही स्वास्थ्य और दीर्घ-जीवन प्राप्त हो सकते हैं, इसलिये पाठकों के ज्ञानार्थ उनका कुछ वर्णन किया जाता है।

आहार

सब से पहले मनुष्य के आहार पर विचार करना आवश्यक है, क्योंकि स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन बहुत कुछ आहार पर ही निर्भर है। यद्यपि शुद्ध जल, वायु, व्यायाम तथा प्राणायाम आदि भी स्वास्थ्य के लिये कम आवश्यक नहीं हैं, तथापि आहार का औचित्य ही मुख्य है और मानव जाति इसी के विषय में सब से अधिक भ्रम में पड़ी हुई है। अतः प्रथम आहार का ही विचार किया जाता है। अन्य अङ्गों का क्रमशः पीछे वर्णन होगा।

प्रश्न किया जा सकता है कि प्राणी को भोजन क्यों करना पड़ता है? उसे भूख क्यों लगती है? सब प्राणियों को प्रति-क्षण कुछ न कुछ क्रिया करनी पड़ती है। केवल हाथों से काम करना, पैरों से चलना-फिरना, मुख से बोलना ही शरीर की क्रिया नहीं हैं, किन्तु उसका सोचना, विचार करना और सांस लेना भी शरीर की क्रियायें ही हैं। इन क्रियाओं के करने में

प्राणियों की शक्ति का व्यय होता रहता है और शरीर की उष्णता घटती रहती है। प्राणियों के शरीर क्रिया करने से इसी प्रकार घटते रहते हैं, जैसे लिखते रहने से लेखनी घिसती जाती है, या पहिनने से वस्त्र पतला और निर्बल होता रहता है। यदि शरीर के इस लगातार ह्रास की पूर्ति न की जाय, तो वह अल्प समय में ही इसी प्रकार निकम्मा और फेंकने योग्य हो जायगा, जैसे अन्य वस्तुएँ बेकार होने पर फेंक दी जाती हैं।

शरीर की प्रधान रचना असंख्य, अति लघु और कोमल कोष्ठों से हुई है, जो परस्पर अत्यन्त महीन तागों से बँधे या जुड़े हुए हैं। इस कोष्ठ-समूह को यथास्थान थामे रखने के लिए कठोर और सुदृढ़ स्तंभ [थाम] लगाए गए हैं, जिन्हें हड्डियाँ कहते हैं, और इस रचना को तरो-ताजा रखने के लिए शरीर में रुधिर की पर्याप्त मात्रा रक्खी गई है, जो सदैव उसके प्रत्येक अंग में अति वेग से घूमता [प्रवाहित] रहता है। शरीर की चेष्टा करते रहने से उसके ये लघु कोष्ठ और उसके बन्धन-तन्तु घिसते, बिगड़ते और टूटते रहते हैं। उनके स्थान पर शीघ्र नए कोष्ठों के बनते रहने की आवश्यकता होती है और यह कार्य आहार से ही होता है। जबसे शरीर बनना प्रारम्भ होता है, भोजन ही उसके बनने का आधार रहता है। माता जो भोजन करती है, उसी से उस प्राणी का शरीर बनना प्रारम्भ

होता है, जो पूरा हो जाने पर बच्चे के रूप में बाहर आता है। अतः भोजन वही है जिससे शरीर के घिसे-टूटे कोष्ठ और तन्तुओं की पूर्ति होती रहे, शरीर का ताप और शक्ति स्थिर रहे और शरीर में जो घिसे और टूटे बेकार पदार्थ हैं वे बाहर फिकते रहें।

भोजन-विज्ञान-विशारदों ने भोज्य पदार्थों का विश्लेषण करके उनकी रासायनिक रचना का वर्णन किया है। उनका कथन है कि भोज्य पदार्थों में मुख्यतः पाँच प्रकार के द्रव्य विद्यमान हैं। एक मांसपोषक द्रव्य हैं, जिनको भोजन-रसायन की परिभाषा में 'प्रोटीन' कहते हैं और जो बिगड़े कोष्ठ और तन्तुओं का निर्माण करते हैं। दही, दूध आदि नत्रजनीय द्रव्य इनके अन्तर्गत हैं। साधारण मानसिक और शारीरिक परिश्रम करनेवाले ऐसे स्वस्थ मनुष्य के २४ घण्टे के भोजन में जिसका देह-भार १॥ मन के लगभग हो साधारणतः सात तोला मांसपोषक सार-द्रव्य होना चाहिए। भोजन में द्वितीय मुख्य द्रव्य महाग्निवर्द्धक और तृतीय अल्पाग्निवर्द्धक हैं, जिनके पारिभाषिक नाम क्रमशः हाइड्रोकार्बोनेट (Hydro-carbonate) और कार्बोहाइड्रेट (Carbo-hydrate) हैं। महाग्निवर्द्धक पदार्थों को हम चिकनाई का नाम भी दे सकते हैं। घी, तेल आदि सारी चिकनाइयाँ इन्हीं के अन्तर्गत हैं। साधारण मनुष्य के लिए लगभग ७ तोला चिकनाई पर्याप्त कही गई है। इसके सेवन से शरीर

की उष्णता स्थिर रहती है। अल्पाग्निवर्द्धक पदार्थों में श्वेतसार (निशास्ता) और सब प्रकार के शर्करा (मिष्टद्रव्य) सम्मिलित हैं। किन्तु इनका आधिक्य अजीर्ण और बहुमूत्रादि नाना रोगों का कारण होता है। साधारण मनुष्य के लिए बीस तोला अल्पाग्निवर्द्धक या श्वेत-सारीय शर्करीय द्रव्य अपेक्षित बतलाया जाता है। भोज्य पदार्थों में चौथा द्रव्य विविध प्रकार के क्षारीय धातु या लवण हैं, जो शरीर से मल निकालने के लिए अनिवार्य हैं और उनकी मात्रा आधुनिक मतानुसार साधारणतः डेढ़ तोला होनी चाहिये। पांचवां द्रव्य जल है, जो रुधिर की तरलता और शुद्धि के लिये अत्यावश्यक है और डॉक्टरों के मत से दिन-रात में एक मनुष्य के लिए दो वा ढाई सेर अपेक्षित है। इन्हीं पाँचों द्रव्यों से हमारे सब भोजन संघटित हैं।

किन्तु सब खाद्य पदार्थों में ये सभी द्रव्य समान अनुपात में नहीं रहते हैं। अतः प्रत्येक खाद्य पदार्थ की उपयोगिता या अनुपयोगिता इन्हीं द्रव्यों के उचित मात्रा में विद्यमान होने या न होने से निश्चित की जाती है। यदि किसी खाद्य पदार्थ में इनमें से किसी एक द्रव्य की न्यूनता या अभाव हो, तो उसकी पूर्ति के लिए भोजन में कोई दूसरा पदार्थ मिलाया जाता है, जिसमें वह द्रव्य भी पर्याप्त मात्रा में आ जाय। शाक-वर्ग में मांसपोषक द्रव्य (प्रोटीन) बहुत ही कम तथा क्षारीय धातु या लवण अन्य खाद्यों की अपेक्षा अधिकतर हैं। मांस में मांस-

पोषक द्रव्य (प्रोटीन) तो बहुत हैं, किन्तु क्षारीय धातु कुछ भी नहीं है इसलिये कोई मनुष्य अकेला मांस खाकर स्वस्थ वा जीवित नहीं रह सकता। अन्न-वर्ग में मांस-पोषक (श्वेत-सारीय निशास्ता या स्टार्च) की प्रचुरता है, परन्तु क्षारीय धातुओं की मात्रा बहुत कम है, अतः अकेले अन्नों के आहार से भी स्वास्थ्य नहीं बना रह सकता। इसलिए अन्नों के साथ शाक का प्रयोग अति आवश्यक बताया जाता है। अन्न और मांस अपने आप पथ्य भोजन नहीं हैं।

मनुष्य के लिए सर्वोत्तम भोजन वही है, जिसमें शरीर के लिये जिन-जिन द्रव्यों की आवश्यकता जिस-जिस परिमाण में है, वे-वे अंश उसी-उसी परिमाण में विद्यमान हों। ऐसे पदार्थ फल हैं। फलों में, उनकी स्वाभाविक अवस्था में, वे सब पोषक अंश उचित मात्रा में उपस्थित रहते हैं, जिन पर मानव-देह स्वस्थ और पुष्ट रह सकता है। मनुष्य केवल फलों का भोजन करके जैसा स्वस्थ, नीरोग और बलवान रह सकता है, वैसा और भोजनों से नहीं रह सकता। अन्न वा मांस में ये गुण नहीं हैं। उनमें श्वेतसार (निशास्ता) आदि मांस-पोषक द्रव्य (प्रोटीन) आवश्यकता से अधिक हैं। इनके भोजन से मनुष्य चाहे मोटे भले ही हो जायँ, किन्तु पूर्ण स्वस्थ नहीं रह सकते।

श्वेतसार (निशास्ते) की अधिक मात्रा मनुष्य के लिये नहीं चाहिए। उसकी अल्प मात्रा ही उसके लिए पर्याप्त है।

श्वेतसार (निशास्ता) के शरीर में अधिक पहुँचने से हानि होती है। शरीर में यह पदार्थ जितनी उसकी आवश्यकता है उससे अधिक पहुँच जाता है तो वह वहां शरीर की पुष्टि करने के स्थान में दोष वा विकारी द्रव्यों के रूप में परिवर्तित हो जाता है, और कालान्तर में जब उसका संग्रह शरीर के लिए असह्य हो जाता है तो वह उसको बाहर फेंकने की चेष्टा करता है। इस चेष्टा में उसे श्रम या कष्ट होता है और इस चेष्टा के नाना रूप होते हैं; उनको ही रोग कहा जाता है। यूँ तो शरीर नित्य प्रति ही दोषों वा विकारी द्रव्यों को फेंकता रहता है। मल-मूत्र, पसीना और श्वास के मार्गों से वह मल निकालने का कार्य किया करता है जो हमको अनुभव नहीं होता, किन्तु जब दोष वा विकारी द्रव्य (विषैले पदार्थ) शरीर में इतने अधिक हो जाते हैं कि साधारण नैत्यिक साधन उसको निकाल फेंकने के लिए पर्याप्त नहीं होते, तब शरीर को असाधारण बल लगाना पड़ता है। शरीर में आहार द्वारा ऐसे पदार्थ पहुँचाने से, जो या तो सर्वथा वा अधिकांश पचकर शरीर के आत्मसात् न हो जायँ, उनके विकारों को बाहर फेंकने का कार्य-भार, मल फेंकने वाले अंगों पर इतना बढ़ जाता है कि वे उसे करते करते निर्बल हो जाते हैं और इस प्रकार आगे अपना साधारण कार्य करने में भी असमर्थ हो जाते हैं। परिणामतः शरीर रोगी रहने लगता है और आयु घट जाती है।

मांस में एक सबसे बड़ा दोष यह है कि जिस शरीर का वह मांस है, उसके विकारी द्रव्य उस मांस में रहते हैं। जीवित अवस्था में शरीर इन विकारी द्रव्यों को बाहर निकालता रहता है, किन्तु मृत्यु होने पर इन विकारी द्रव्यों का निकलना बन्द हो जाता है। शरीर के लघु-कोष्ठ मृत्यु के साथ ही निर्जीव नहीं हो जाते, किन्तु विकारी द्रव्यों का विष उनको कुछ समय में मारता है। डॉ० जेम्स रेमंड डेवरू (Dr. James Raymond Devereux) अपनी पुस्तक 'ईटिंग टू बैनिश डिज़ीज़ज़' (Eating to Banish Diseases) में डॉ० हीयरवार्ड कैरिंटन का यह मत उद्धृत करते हैं—"कोई जंतु किसी प्रकार भी मारा जाय वह तत्काल नहीं मर जाता, उसकी चेतनता जाती रहती है, हृदय की गति रुक जाती है, जीव शरीर से निकल जाता है। किन्तु शरीर के अंश लघु कोष्ठ उष्ण रुधिर वाले प्राणियों के कई घण्टे तक और साँप, कछुआ-जैसे शीत रुधिर वाले जन्तुओं के कई दिन तक जीवित रहते हैं। उस मृत्यु और शरीर के कोष्ठकों की वास्तविक मृत्यु के मध्य काल में ये कोष्ठक अपने समीपवर्ती आहार-रस को लेते रहते हैं और विकारी द्रव्य भी उत्पन्न करते रहते हैं, जिनको जीवित अवस्था में वृक्क (गुर्दे), फुप्फुस (फेफड़े) और मल-निष्कासक अन्य अङ्ग शीघ्र ही शरीर से बाहर निकाल देते हैं। मृत्यु के पश्चात् इन विषों के संग्रह से ही शरीर के ये

कोष्ठक निर्जीव होते हैं।" डॉ० लिंडलाहर का मत भी सुनिए—"मांस का प्रत्येक टुकड़ा उसके कोष्ठों के विषैले द्रव्यों और मूत्र-मल (यूरिक एसिड) से भरा हुआ होता है। मांसाहारी के शरीर को केवल अपने शरीर की पाचन-क्रिया और कोष्ठों के परिवर्तन से बने विकारी द्रव्यों को ही नहीं निकालना पड़ता, अपितु मांस में पूर्व उपस्थित मलों को भी निकालना पड़ता है।" अब इस बात को पाठक समझ गये होंगे कि मांस में मरे पशु के विकारी द्रव्य और विष होते हैं, अतः वह मनुष्य के लिए बहुत ही हानिकर है। मांस खाने वालों के शरीर में एक प्रकार का तेजाब बनता रहता है जिसे मूत्राम्ल (Uric Acid) कहते हैं। शरीर से वृक्क (गुर्दे) मूत्र द्वारा इसे निकालते हैं, किन्तु जब वे इस कार्य को पूर्णतया नहीं कर सकते, तो मूत्राम्ल (यूरिक एसिड) कण-रूप होकर जोड़ों में एकत्रित हो जाता है और आमवात (गठिया) का कारण होता है, या दूसरे कई रोग पैदा कर देता है। अतः प्राकृतिक चिकित्सकों ने मांस को मनुष्य का आहार नहीं माना है।

जो लोग पूर्ण स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन के इच्छुक हों उनको अपने आहार में फल, उनकी गिरी तथा रसीले शाक ही खाने चाहिए। मनुष्य के ये ही स्वाभाविक और सर्वोत्तम भोजन हैं, क्योंकि इनको किसी प्रकार सुधारने और बनाने की आवश्यकता नहीं होती है। स्वाभाविक दशा में मनुष्य के

सामने आते ही उसके लिये ये रोचक होते हैं—उसको प्रसन्नता प्रदान करते हैं—उनको देखकर उसकी राल टपक पड़ती है और उनके खाने को मन सहसा ललचाता है। प्रकृति माता ने फलों में वे सब पदार्थ संग्रह करके एकत्र रख दिये हैं जो मनुष्य के लिये आवश्यक हैं, अतः उन्हें पकाना वा उनमें नमक या शकर मिलाना प्रकृति की अवज्ञा करना है। इनमें शकर और कई प्रकार के क्षारीय धातु उचित मात्रा में स्वयमेव मिश्रित हैं। क्या प्रकृति इतनी मूर्ख वा अशक्त है जो यदि वह अधिक लवण या मीठे को मनुष्य के लिये उपयुक्त समझती तो अधिक नहीं दे सकती थी? फलों में न्यूनाधिक सब रस विद्यमान हैं। केला, आम, अंगूर, शरीफा, लीची आदि मीठे; नीबू, नारंगी, आँवला, इमली आदि कुछ खट्टे; गोला, बादाम, अखरोट आदि सस्नेह (चिकनाईवाले) होते हैं। प्रकृति ने जिस जिस जीव के लिये जो-जो आहार निर्दिष्ट किये हैं, उन-उन में उस उस जीव के शरीर के पोषण और स्वस्थता के अनुकूल सब पदार्थों का मिश्रण कर दिया है।

गाय, भैंस, घोड़े घास खाकर पुष्ट, बली और नीरोग रहते हैं; ऊंट, हाथी वृक्षों के पत्तों से ही अपना सब काम चला लेते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के शरीर का पोषण, बल और पूर्ण स्वास्थ्य फलों से ही रह सकता है। इनमें शरीर के घिसे हुए अंगों को बनाने के लिये मांस-पोषक (प्रोटीन), ताप और बल रखने

के लिये अल्पाग्निवर्द्धक (निशास्ता, शकर) वा महाग्निवर्द्धक द्रव्य (चिकनाई) तथा विकारों के निकालने के लिये क्षारीय धातुएं उचित परिमाण में उपस्थित हैं। यदि मनुष्य फलों और रसीले शाकों को ही खाता रहे तो उस का शरीर स्वस्थ और नीरोग रहेगा और उसकी आयु पूरी होगी। आजकल शाकों को पकाकर और कई एक को पानी में उबाल और निचोड़ कर लवण, मिर्च, मसाला मिलाकर खाने की जो प्रथा है वह समुचित नहीं है। किसी पदार्थ को पानी में उबालने से उसका सारांश पानी में घुल जाता है, और जब वह फेंक दिया गया तब यह प्रकट ही है कि शेष भाग निस्सार रह जाता है। मूली शलजम-जैसे शाकों के कोमल पत्ते अवश्य खाने चाहिएं। पत्र-शाक पालक, मेथी, बथुआ आदि तो बहुत ही हितकारक होते हैं। इस प्रकार शाकों में शरीर से मल निकालते रहने का गुण विशेषतया होता है। जो लोग अपने भोजन में अन्न खाते हों उनके लिए तो शाकों का खाना अनिवार्य ही है। शाकों को आग पर पकाने से उनका प्राकृतिक सङ्गठन छिन्न-भिन्न हो जाता है। सजीवज क्षारीय धातु (Organic Salts) नष्ट हो जाते हैं या उनका गुण बदल जाता है। शाकों में जो जीवनप्रद पदार्थ (विटामिन) है वह नष्ट हो जाता है। राँधे हुए शाक विकृत और निर्जीव हो जाते हैं। उनमें स्वाभाविक स्वाद नहीं रहता, इसीलिए नमक आदि मिलाये जाते हैं।

खेद है इस समय फलाहार की प्रथा नहीं रही है। जो कोई थोड़े-से फल खाते भी हैं वे आहार के लिए नहीं, किन्तु भोजन के अतिरिक्त ऊपर से स्वाद-मात्र के लिये खाते हैं। इस प्रकार अध्यशन (अति भोजन) हो जाता है। जब पेट में पीड़ा हो जाती है तब फलों को लांछन दिया जाता है कि अमरूद या बेर खाए थे, उनसे पेट अफर गया। आम, केले या बेल ने कब्ज़ कर दिया। यह फलों का दोष नहीं, अधिक खाने का होता है। अधिक तो अमृत भी विष हो जाता है।

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि एक समय के भोजन में कई-कई प्रकार के फल व शाक खाना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से भी अध्यशन हो जाता है। (एक समय के भोजन में एक या दो प्रकार के फलों वा शाकों पर ही बसर करनी चाहिए। एक समय के भोजन में फल और दूसरे समय के भोजन में शाक खाने चाहिए। इनका एक साथ खाना भी ठीक नहीं है। फलों व शाकों का पतला छिलका, जो खाया जा सकता है, अलग नहीं करना चाहिए, उसे अवश्य खाना चाहिये, वही विशेष उपयोगी होता है।)

आजकल भोजन की प्रधान वस्तु अन्न ही माना जाता है। अन्न दो प्रकार का है—एक शूकधान्य (बालोंवाला) जैसे गेहूँ, बाजरा, जौ, मकई इत्यादि। दूसरा शिम्बी धान्य वा द्विदल धान्य (फलीवाला) जैसे चना, उड़द, मोठ, लोबिया आदि। कहा

जाता है कि शिंबी धान्य वा द्विदल धान्यों में मांस-पोषक द्रव्य (प्रोटीन) बहुत अधिक है और इसलिये निरामिष भोजियों को वे मांस का काम दे देते हैं। मांसाहारी लोग रोटी को मांस से और निरामिषभोजी दाल से खाते हैं। बात ठीक ही है। मांस का बदला तो चुक गया। मांस-पोषक द्रव्य (प्रोटीन) दाल से भी मांस के बराबर ही मिल गया। किन्तु उसकी इतनी अधिक मात्रा में शरीर को आवश्यकता ही कब है ? माना, मांस या दाल खानेवाले अधिक मांस-पोषक द्रव्य (प्रोटीन) खाने से मांसल (मोटे) हो जाते हैं, किन्तु मोटा होना स्वास्थ्य का लक्षण नहीं है। प्रोटीन आदि जो पदार्थ शरीर के नित्य के पोषण की आवश्यकता से अधिक मात्रा में शरीर में पहुँचते हैं, वे वहां चर्बी के रूप में बदल कर एकत्र (इकट्ठे) हो जाते हैं और कालान्तर में उनका मूत्राम्ल (यूरिक एसिड) नामक दूषित द्रव्य बनने लगता है, जिसको वृक्क (गुर्दे) तथा त्वचा अपनी शक्ति-भर निकालते भी रहते हैं, किन्तु उनकी शक्ति अनन्त तो है ही नहीं। जब दूषित द्रव्यों की मात्रा उनकी निष्कासण शक्ति से बढ़ जाती है तब शरीर उनको नाना प्रकार के रोगों के रूप में बाहर फेंकने का प्रयत्न करता है।

शूक-धान्य गेहूँ, बाजरा आदि में भी यही दोष है, किन्तु उतना नहीं जितना दालों में है। दालों की अपेक्षा गेहूँ, बाजरा आदि में मांसपोषक द्रव्य (प्रोटीन) कम है।

अन्नों में एक और दोष है। इनमें श्वेतसार (निशास्ते) की मात्रा अधिक होने से इनकी लेही (चिपकनेवाली वस्तु) बन जाती है, अतः अन्नों से बने भोजन, विशेष कर मैदा से बने हुए हलवा, लपसी आदि तथा श्वेतसार की प्रचुरता रखनेवाले चावलों से बनी हुई खीर आदि पदार्थ शरीर में पहुँचकर चिपकन उत्पन करते हैं। यह चिपकन कोष्ठबद्ध (कब्ज) का कारण होती है। आमाशय और आँतों की आभ्यन्तर कला (झिल्ली) पर यह लिपटती रहती है। आँतों में इसके कारण रोक-सी पड़ जाती है और मल निकलने के कार्य में बाधा होने लगती है। मल न निकलने से अजीर्ण हो जाता है, भूख कम लगने लगती है और जब शरीर में यह चिपकनेवाला पदार्थ कला (झिल्लियों) पर लिपटकर अधिक हो जाता है तो शरीर इसे नाक अथवा कंठ के द्वार से बाहर फेंकने की चेष्टा करता है। इसी को कफ-प्रकोप (नज़ला-बलग़म) तथा प्रतिश्याय (जुकाम) कहा जाता है। अन्नों का भोजन मनुष्य के लिये उत्तम नहीं है, किन्तु वर्तमान दशा में अधिकांश मनुष्य इसके बिना निर्वाह ही नहीं कर सकते। उन लोगों को भी हानि से बचने के लिये दालों का प्रयोग तो एकदम बन्द कर देना चाहिए।

६ अग्नि पर पकाने से अन्नों का उपयोगी रूप नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। क्षारीय द्रव्यों का विनाश होकर उनमें से पाचक

शक्ति लुप्तप्राय हो जाती है।) उनमें यह दोष आ जाता है कि पके हुए अन्न बहुत कोमल हो जाते हैं, और लोग पर्याप्त चबाए बिना ही उन्हें अधिक खा सकते हैं, जिसका बहुत-सा भाग अपच रहकर मल बनकर निकल जाता है।(मनुष्य पके हुए अन्न की अपेक्षा बिना पके अन्न को सुगमता से पचा सकता है, और पके की अपेक्षा बिना पके अन्न की आधी या इससे भी न्यून मात्रा उसके लिये पर्याप्त हो सकती है, क्योंकि बिना पकाया अन्न बिना पर्याप्त चबाए खा लेना सुगम नहीं है, इसे तो खूब चबाना ही पड़ेगा, अतः यह अधिक मात्रा में नहीं खाया जा सकता। खूब चबाने से इसका पाचन सुगमता से होगा और इसका अधिकांश पचकर शरीर के पोषण में ही लगेगा।)सब जन्तुओं में बन्दर के शरीर की रचना मनुष्य से बहुत मिलती-जुलती है। देखिए, कच्चे अन्नों को बन्दर किस प्रकार सुगमता से चबा और पचा सकता है। मनुष्य ने बहुत काल से अन्नों को आग पर पकाकर खाने का अभ्यास (बान) डाल लिया है। बिना आग पर पकाए अन्न को चबाने की उसकी शक्ति का बहुत कुछ ह्रास हो गया है। अतः अब उसके पुनरुज्जीवन के लिए पहले या तो सूखा आटा खाना चाहिए या अन्न को चौबीस घंटा पानी में रखकर अंकुर (अँकुए) निकल आने पर खाना चाहिए। उसमें पानी सिर्फ़ उतना डालें, जितना वह अन्न सोख ले सके। तात्पर्य यह है कि पानी फेंकना न पड़े,

क्योंकि छिलके में अन्न का सार और शक्ति रहती है। आटा या भिगोकर अँकुए निकला हुआ अन्न बहुत सुपच, सुपथ्य और पौष्टिक होता है। इसे चबाना बहुत पड़ता है। आरम्भ में अभ्यास न होने से इतना चबाना अखरता है, किन्तु शीघ्र ही अभ्यास हो जाता है। पर्याप्त चबाने से मुख का लालारस (लार) मिल कर यह यथेष्ट गीला, खाने योग्य और मीठा भी हो जाता है, क्योंकि लार श्वेतसार (निशास्ते) को शर्करा (शकर) के रूप में परिवर्तित कर देती है। यदि अंकुरित अन्न को अधिक मीठा करना चाहें तो उसमें कुछ किशमिश मिला सकते हैं। अनुमान करके देखा गया है कि चार छटांक गेहूँ के आटे की रोटी खाने-वाले को सूखा आटा या अंकुरित गेहूँ के दाने केवल दो छटाँक ही पर्याप्त हो जाते हैं। किन्तु इनके साथ शाक (स्वाभाविक अवस्था में) न्यूनातिन्यून इनसे दूना अवश्य खाना चाहिए, तब यह भी शरीर के लिये मध्यम श्रेणी का भोजन हो जाता है।

यतः लोगों को पके हुए अन्न का अभ्यास पड़ा हुआ है, इसलिये जो उसको न छोड़ना चाहें और पके हुए अन्न का ही भोजन करें, उनको भी छिलके-युक्त अन्न को ही काम में लाना चाहिए, क्योंकि छिलके में सारवान् द्रव्य की विद्यमानता के अतिरिक्त हानिकारक चिपकन को भी दूर कर देने का गुण है। मैदा या छानकर बूर (छिलका) अलग किया हुआ आटा बहुत ग्राही होता और कब्ज़ करता है।

'रोटी के साथ दाल नहीं खानी चाहिए, उसके साथ शाक अवश्य खाना चाहिए। जहाँ तक बन सके, रोटी कम और शाक अधिक खाना चाहिए। वह रोटी से कम तो कदापि न होना चाहिए। बिना शाकों के अकेले अन्न पर मनुष्य कभी स्वस्थ नहीं रह सकता। शाकों को, जैसा कि ऊपर कहा गया है, बिना आग पर पकाए प्राकृतिक दशा में खाना चाहिए। उनमें लवण, मिर्च वा शकर और मसाला मिलाना बहुत हानिकर है।'

कहा जाता है कि भोजन का स्वादु होना आवश्यक है, क्योंकि स्वादु होने से उसमें रुचि होती है और वह सुगमता से पच जाता है। यह बात तो ठीक है, किन्तु जो लोग लवण, मिर्च, मसाला आदि को स्वाद का कारण समझते हैं, वे भूल में हैं।

ईश्वर ने जो पदार्थ जिस जीव के आहार के लिये बनाया है, उसमें उस जीव के लिये स्वाद भी रक्खा है। परमात्मा सर्वज्ञ है, उसकी रचना में त्रुटि नहीं रह सकती। मनुष्य का स्वाभाविक आहार फल है। क्या उन फलों में सब प्रकार का स्वाद नहीं है ? हाँ, किसी मांसाहारी जन्तु सिंह कुत्ता आदि के सामने फल डालो तो वह सूँघकर ही हट जायगा, क्योंकि वह उसका स्वाभाविक भोजन नहीं है। परमेश्वर-प्रदत्त स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करके मनुष्य ही अस्वाभाविक पदार्थ खा-खाकर अपने स्वास्थ्य को बिगाड़ लेता है और उन अस्वाभाविक पदार्थों में मिथ्या स्वाद का अनुभव करने लगता है। जब

कोई मनुष्य प्रथम बार किसी अस्वाभाविक पदार्थ को खाता है, तो उसमें उसकी रुचि नहीं होती, केवल इतना ही नहीं है किन्तु घृणा होती है। उसे कष्ट अनुभव होता है। किन्तु वह प्रकृति की इस चेतावनी की अवज्ञा कर हठात् उस पदार्थ को पुनः-पुनः खाने से उसका अभ्यासी हो जाता है और उसी में स्वाद तथा आनन्द मानने लगता है। इसलिये ऐसे अभ्यास को बिगड़ा हुआ और अस्वाभाविक ही मानना पड़ेगा।

इन हानिकर मिर्च, मसालों के अभ्यासी एक और आक्षेप किया करते हैं कि यदि मिर्च, मसाले आदि मनुष्य के खाद्य नहीं हैं तो परमात्मा ने उनको बनाया ही क्यों है? मनुष्य का ज्ञान कितना ही क्यों न बढ़ जाय, वह सर्वज्ञ नहीं बन सकता। मनुष्य के लिये यह सम्भव नहीं कि परमात्मा की अनन्त सृष्टि में जो असंख्य प्रकार की रचना है उस सबका प्रयोजन वह जान ही लेवे। मनुष्य को परमात्मा ने जो स्व-तन्त्रता दी है उसकी सार्थकता तब ही हो सकती है जब कि वह अपने विवेक द्वारा अपने सामने विद्यमान उपयोगी और अनुपयोगी पदार्थों का अन्तर जान सके। इसी से उसकी स्वतन्त्रता के सदुपयोग की परीक्षा हो सकती है, अन्यथा पशु, पक्षी और मनुष्य में भेद ही क्या रह जायगा!

भोज्य सामग्री में दूध की बहुत प्रशंसा की जाती है, क्योंकि उसमें अंग-पोषक सब द्रव्यों की विद्यमानता बतलाई जाती है,

और इसलिये वह शरीर को बहुत शीघ्र बढ़ानेवाला है। यह बात सत्य है, किन्तु जन्म के पश्चात् कुछ काल तक ही शरीर की शीघ्र वृद्धि की आवश्यकता होती है। उसी काल के लिये शिशु के पानार्थ माता के शरीर में दूध बनता है। ज्यों ही शरीर का उतनी शीघ्रता से बढ़ना प्रकृति को अभीष्ट नहीं रहता, त्यों ही वह माता के शरीर में दूध बनना बन्द कर देती है। अतः दूध बच्चों का ही स्वाभाविक भोजन है और वह भी अपनी माता का ही संपूर्णतः स्वाभाविक है। इस विषय में डॉ० जेम्स रे० डेवस्र का कथन जानना चाहिए। वे लिखते हैं—"दूध के पक्ष और विपक्ष में बहुत हेतु दिए जाते हैं। हमने सब प्रकार के आक्षेप उसकी बनावट और पोषण-शक्ति, दोनों की दृष्टि से सुने हैं और हमने उसकी प्रशंसा में भी बहुत कुछ पढ़ा है। हमारे सिद्धान्त से दूध किसी प्रकार भी आदर्श भोजन नहीं माना जा सकता। हमको देह के पोषणार्थ सोलह तत्वों की आवश्यकता है और उनको हम गौ के दुग्ध की अपेक्षा प्राकृतिक मिश्रणों में अधिक पसन्द करते हैं। दूध में ऋतु-ऋतु में और गौ-गौ में भेद होता है। यदि वह पशु रोगी हो तो दूध में अन्तर पड़ जाता है। उसमें बिगाड आ जाने की सम्भावना के अतिरिक्त मैं तो अपने लिये सब तत्व प्रकृति के मिश्रणों से लेना अच्छा समझता हूँ। पुनः बछड़े को हमसे भिन्न प्रकार के तत्वों के मिश्रण की आवश्यकना है।

"यदि गौ का दूध बछड़े के लिये आदर्श है तो यह आवश्यक नहीं है कि वह हमारे लिये भी आदर्श हो। दूसरा विचार दूध की अस्वाभाविक उत्पत्ति का है। पशुओं के स्तनों में दूध तब तक ही रहता है जब तक कि उनके बच्चों को उस उपयुक्त आहार की आवश्यकता होती है। हमारी गौएँ हमारे अस्वाभाविक खिलाने-पिलाने और दूध लेते रहने के कारण न्यूनाधिक निर्बल हो जाती हैं और यही उनमें क्षय और अन्य प्रकार के रोगों के फैलने का कारण है। गो-दुग्ध में कई क्षारीय धातु बहुत कम हैं। हमने ऐसे मनुष्यों का वृत्तान्त पढ़ा है जिन्होंने तीस या चालीस वर्ष तक दूध पर रहकर भारी क्षति उठाई है और परिणामतः वे ठोस भोजन के योग्य नहीं रहे हैं। यह एक प्रकार से जीवन को धक्का देना है और उसमें कहीं-न-कहीं त्रुटियाँ और निर्बलता अवश्य रहेंगी। हाँ, विशेष समयों में अकेले दूध पर रहना बहुत लाभ करता-सा प्रतीत होता है। इसका सीधा कारण यही है कि उस समय श्वेतसारयुक्त (निशास्तेवाले) भोजन, मांस और अन्य हानिकर पदार्थ न खाकर शरीर इन भोजनों के दूषित द्रव्यों से छुटकारा पा जाता है।

"मेरे भोजन-विधान में दूध का कोई स्थान नहीं है, क्योंकि दूसरे भोजनों के साथ उसका अतिलाभप्रद संयोजन नहीं हो सकता।"

इस उद्धरण को पाठक ध्यान से पढ़ें और विचारें कि मनुष्य के आहार में केवल पोषण की दृष्टि से दूध की कुछ भी

आवश्यकता नहीं है। बाल्यकाल के पश्चात् सारी आयु दूध न मिले तो, अन्य उचित आहार के मिलते रहने पर, शरीर सब प्रकार स्वस्थ और पुष्ट ही रहेगा। मनुष्येतर सारा प्राणी-संसार इसका साक्षी है।

जिन प्राकृतिक चिकित्सकों ने दूध को भोजन माना है उन की सम्मति में उसको अपने सहज रूप व प्राकृतिक दशा में ही पीना चाहिये। अग्नि पर पकाने से दूध दुष्पच हो जाता है। किन्तु वह ताजा हो, उसमें कोई मिलावट न हो तथा निरोग पशु से लिया गया हो, वह स्तनों को साफ करके स्वच्छ स्थान में शुद्ध हाथों से शुद्ध पात्र में दुहा गया हो; अन्यथा उसे सिर्फ इतनी आंच देनी चाहिये कि उसमें कोई रोगोत्पादक जीवाणु (जर्म्स) हों तो वे न रहें। अधिक औटाने से दूध का विटामिन भी क्षीण हो जाता है, अतः दूध को उबाल आने से पूर्व ही आंच से उतार लेना चाहिये। दूध में शकर मिलाना हानिकर है। दूध में स्वाभाविक मिठास पर्याप्त होती है। दूध को अन्य भोजन के साथ पीना भी ठीक नहीं है। इसको अन्य भोजन के पच जाने के पीछे या अन्य भोजन को इसके पच जाने पर ग्रहण करना चाहिये। दूध प्रायः दो घण्टे में और अन्य भोजन प्रायः चार घण्टे में पच जाते हैं। दूध चाहे हितकर हो वा हानि-रहित, किन्तु दूध के विकार वा उससे बने पदार्थ घी, मलाई, खोवा आदि तो निस्सन्देह ही स्वास्थ्य को हानिकारक हैं। लोगों ने

इन पदार्थों को नाना प्रकार से अपने जिह्वा-लौल्य की तृप्ति का साधन बना लिया है। अनेक भांति के पूरी, पकवान, हलवा, मिष्टान्नादि दूध के विकारों से ही बनाए जाते हैं, जो सब दुष्पच और मलरोधक हैं, अतः उनको खाना स्वास्थ्य को अपने हाथों बिगाड़ना है।

बिना पकाये ताजे दूध से जो मक्खन निकाला जाता है, वह तथा मट्ठा (बटर—मक्खन-रहित दुग्ध) दूध के अलग-अलग किये हुए अंश-मात्र हैं । पकाने आदि की क्रिया न होने से, उनको घी मलाई और खोये की भांति बिगड़ा हुआ पदार्थ नहीं समझा जा सकता। उनका जीवन-तत्व विटामिन भी नहीं नष्ट होता, अतः मक्खन उन पदार्थों के तुल्य हानिकर नहीं है। दूध से निकाला हुआ मक्खन स्वल्प मात्रा में रोटी के साथ खाया जाय तो इतना हानिकर नहीं है। पकाने से मक्खन का विटामिन भी क्षीण हो जाता है। वस्तुतः दूध की अपेक्षा मक्खन का प्रयोग भी निचले दर्जे का है। जो लोग दूध को भोजन बनाना चाहें उनको उसे अपने प्राकृतिक (असली) रूप में पीना चाहिये।

भोजन में जो लवण या श्वेत शर्करा (खांड, चीनी) बहुधा मिलाये जाते हैं वे नितान्त हानिकर हैं। स्वास्थ्य के इच्छुक सज्जनों को अपने भोजन से इन दोनों पदार्थों को सर्वथा बहिष्कृत कर देना चाहिये। लवण के विषय में डॉ जेम्स रे० डेवरू

की सम्मति उनके तथा उनके संकेतित अन्य डाक्टरों के शब्दों में सुनिये—

"लवण—इस पदार्थ को शरीर के कोष्ठ अंगीकार नहीं करते। लवण-मिश्रित पदार्थ खाने पर जो प्यास लगती है यह उस हानि का प्रतिकार और संशोधन करने के लिये प्राकृतिक चेष्टा-मात्र है। कितने ही लेखकों ने प्रकट किया है कि मूत्राम्ल (यूरिक एसिड) के भार से दबे हुए अथवा आमवात (गठिया) सरीखे रोगों से पीड़ित पुरुषों के लिये लवण अत्यन्त हानिकर है। डॉ० टिलउन के मत में लवण शरीर में विजातीय द्रव्य के रूप में रहता है, वह शरीर के कोष्ठों की रचना में उपयुक्त नहीं होता। यदि हमारे शरीर को लवण सजीवत्र (आरगेनिक) दशा में, जिस रूप में कि वह फलों और शाकों में विद्यमान है, न दिया जाय तो वह उस लवण से रहित ही रहता है। डॉ० ब्रिजर ने 'दी डीमन आफ़ डिस्पेपसिया' पुस्तक में इस प्रकार व्याख्या की है—यकृत (जिगर) के निर्बल पड़ जाने पर अध-पचे धातु रुधिर में मूत्राम्ल (यूरिक एसिड) बन कर घुल जाते हैं। ज्यों ही वह रुधिर में घुलते हैं, त्यों ही शरीर को अपने रचना-नियम के अनुसार क्षार की आकांक्षा होती है। रुधिर में इस समय लवण ही सब से अधिक क्षारीय द्रव्य होता है। वह मूत्राम्ल (यूरिक एसिड) में तुरन्त मिल जाता है और मूत्र-लवण (यूरिक सोडियम) को उत्पन्न करता है। यह लवण

यूरिया की अपेक्षा अधिक द्रवणशील (घुलने वाला) होता है। उसको घुलने के लिये अपने से ८००० गुने द्रवणशील (घुलने वाले) पानी की आवश्यकता है।

"इस कार्य का भार वृक्कों (गुर्दों) पर पड़ता है। उनकी शक्ति परिमित है, अतः रुधिर में ही उसका संग्रह होता है। उसके छोटे-छोटे श्वेत कण बनकर शरीर के जोड़ों और अन्य अवयवों में एकत्रित हो जाते हैं। लवण मनुष्य-शरीर का घोर घातक है। मुटापा भी लवण-सेवन का एक दण्ड है, क्योंकि लवण का स्वभाव पानी को एकत्र करने का है। यह भी शरीर को हानियों से बचाए रखने के लिये प्रकृति का एक प्रयत्न है।"

श्वेत शर्करा (खाँड, चीनी) के सम्बन्ध में भी डॉ० जे० रे० डेवरू का मत देखिए—

"शुद्ध श्वेत शकर—यह भी शरीर को भोजन नहीं देती। उसको निश्चयतः विष का रूप समझिये। मैककान का कथन है कि अमेरिकन जाति शर्करा-शूकर बन गई है, किन्तु अन्य देश भी इस विषय में उससे पीछे नहीं रहे हैं। खाँड एक प्रकार का साफ़ किया हुआ ईंधन है जो शरीर की रचना में जलता रहता है। वह उसको कोई क्षार, विटामिन, रासायनिक रस या वह वस्तु जो उसे बनाने और सुधारने तथा स्वास्थ्य को रखने के लिए अनिवार्य है, नहीं देता।

"इसके दहन से अम्ल-रस (तेजाब) बनते हैं। हम आहार्य पदार्थों को संशोधित रूप में बड़ी मात्रा में ग्रहण कर के समस्त जाति की रोग-निवारक सामर्थ्य को नष्ट कर रहे हैं और संशोधित शर्करा मनुष्य-परिवार के शत्रुओं — पाण्डुरोग, क्षय, सन्निपात, हृद्रोग, प्रमेह और सरतान (एक भयानक फोड़ा)- से बचानेवाली शक्ति को सवेग छिन्न-भिन्न करने के लिए सब से बड़ा अस्त्र है। शर्कराहार की हानियों के विषय में डॉ० जासलिन की पुस्तक अमेरिका के संयुक्त-राज्यों में अब प्रमाणित मानी जाती है। उसमें बताया गया है कि उस देश में पाँच लाख मनुष्यों को प्रमेह है वा मरने से पहले ही अवश्य होगा। डॉ० मैककान ने यह भी कहा है कि संशोधित शर्करा और संशोधित श्वेतसार (निशास्ता) अमेरिका की सहन-शक्ति को क्षीण कर रहे हैं। दीर्घकाल तक तो वे अपना कार्य अलक्षित रूप से करते रहे। वैज्ञानिक अपने सिर खुजाते रहे और उनकी हानियों को न समझकर चकाचौंध-सी में रहे। किन्तु अब शर्करा और उससे उत्पन्न होनेवाले रोगों के स्वभाव भले प्रकार जान लिए गए हैं। पूर्णतया यह बताना कठिन है कि रोग के उत्पन्न करने में शर्करा का कहाँ तक हाथ है। इसके आहार का प्रचार उतना ही बढ़ता गया है जितना कि सरतान फोड़ा प्रसार पाता गया है और कौन जानता है कि केवल उसका क्षारीय धातुओं को खा जाने का स्वभाव ही शरीर-कोष्ठों में से

उन आवश्यक धातुओं को निकाल लेने के लिये उत्तरदायी है, जिनके निकल जाने से सरतान फोड़े का, जैसा कि हम को ज्ञात है, बल बढ़ जाता है। खांड में से क्षारीय धातु निकल चुकती है। यह विशुद्ध किया हुआ एक रासायनिक द्रव्य-मात्र है। इसको चूने (लाइम) की बहुत कामना रहती है। यह बात अधोलिखित परीक्षण से स्पष्ट हो जायगी।

"यदि चूने को पानी में मिलाया जाय तो उसका कुछ ही अंश पानी में घुलेगा। किन्तु यदि पानी में खाँड घोल दी जाय तो चूने की ३५ गुनी मात्रा घुल जायगी। इसलिये मैक-कान के मतानुसार कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता कि आजकल अस्थि-पञ्जर के निर्बल कर देने और दाँतों के क्षीण होने की जो भयानक स्थिति है, उसके लिये खाँड ही बड़ा अपराधी है। मिठाइयों या उन पदार्थों की, जिनमें किसी-न-किसी प्रकार खाँड मिलाई जाती है जैसे मुरब्बे, पक्वान्नादि की, भारी हानियां दिख-लाने के लिये बहुत कुछ लिखा जा चुका है। जहां तक खाँड का सम्बन्ध है इसके विषय में समझौता नहीं किया जा सकता और इसका पूर्णतया सब प्रकार से घर से बहिष्कार ही कर देना चाहिए।"

जो कुछ अमेरिका के विषय में ऊपर कहा गया है वह सब इस देश पर भी लागू होता है। यहाँ भी खाँड का बहुत प्रयोग होने लगा है। शहरों में अनेक प्रकार की नई-नई मिठाइयाँ ढेर-की-ढेर

प्रति दिन बनती और खाई जाती हैं। उसके फल-स्वरूप अस्वस्थता और रोगों की भी उतनी ही वृद्धि होती जा रही है। ग्रामों में इस बला ने अभी आक्रमण नहीं किया है। इसीलिये ग्रामीण जनता के स्वास्थ्य की दशा शहर वालों से कहीं अच्छी है।

गन्ना, चुकन्दर, खजूर आदि, जिन से खाँड बनाई जाती है, प्रकृति की रचनाएँ हैं। उनमें ईश्वर ने भोजन के सब आवश्यक अवयव उचित अनुपात में संग्रह कर दिए हैं, अतः वे अपने असली रूप में ही आहार्य हैं। उनके ताज़े स्वरस का पान भी किया जा सकता है। किन्तु ज्यों ही इस स्वाभाविक रस को पकाया जाता है, इन पदार्थों का रासायनिक संमिश्रण बिगड़ने लगता है। खाँड की अपेक्षा गुड़, राब व लाल शकर बहुत कम हानि करती है, क्योंकि इनमें से खाँड के तुल्य वे सब क्षारीय धातु नहीं निकल जाते हैं, जो भोजन के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं, जिनको हम मैल या खार कहकर अलग कर डालते हैं। वैद्य उस रोगी को क्या कहेगा, या उसका रोग कैसे जायगा, जिसने वैद्य के दिये शरबत, अवलेह या वटिका में से, उसे घोट पका कर, सिर्फ मीठे को तो निकाल कर खा लिया है और अपने स्वाद के लिए औषधियों के अंश को मैल, खार वा कटु समझ कर बाहर निकाल फेंका है? मिठाई की लालसा-पूर्ति अंगूर, केला किशमिश, मुनक्का, पिंडखजूर, छुहारे आदि अनेक मधुर फलों

से की जा सकती है। मिठास के लिए शहद भी उत्तम पदार्थ है। इन पर ही सन्तोष करना चाहिए और अपने ही हित के लिए खांड और उससे बने मिष्टान्नों का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए।

चाय, काफी, तम्बाकू, भंग, सुलफा, अफीम और मदिरा आदि भी किसी प्रकार भोज्य पदार्थ नहीं हो सकते। कोई जन्तु तक इन्हें नहीं खाता है। ये किसी प्रकार भी शरीर का कोई हित नहीं करते। ये हमारे शरीर के साक्षात् शत्रु हैं। मनुष्यों की यह भावना कि ये पदार्थ शरीर को गर्मी और शक्ति पहुंचाते हैं, सर्वथा भ्रममूलक है। ये पदार्थ उत्तेजक मात्र हैं। ये शरीर में या उसके किन्हीं अंगों में उत्तेजना कर देते हैं जिस से कुछ काल तक उष्णता और बल सा प्रतीत होता है, किन्तु पीछे से वास्तविक ताप और बल का ह्रास होता है। जैसे थके हुए घोडे को चाबुक लगा कर अधिक दौड़ने के लिए उत्तेजित किया जाता है वैसे ही ये भी शरीर को कुछ क्षणों के लिए उत्तेजित कर देते हैं। चाबुक लगा लगा कर जो घोडे बहुत दौड़ाये जाते हैं उनका जीवन घट जाता है। इसी प्रकार इन पदार्थों से उत्तेजना लेने वालों का शरीर रोगी रहने लगता है और जीवन का अन्त समय से पहले ही हो जाता है। चाय के विषय में डा० विल्सन ने लिखा है-

"चाय विशेषतः बहुत निर्बलकारी है और इसका प्रभाव सीधा नाड़ियों पर पड़ता है और उनमें क्षोभ उत्पन्न करता है।

इसमें टेनिन नामक विष होता है। यह आमाशय-रस (गास्ट्रिक ज्यूस) को बिगाड़ देती है जिससे पाचन में विघ्न पड़ने लगता है। इसके विष होने का परीक्षण जन्तुओं पर किया गया है। हरी चाय का तीव्र काथ अथवा सार छोटे जन्तुओं का घात शीघ्र ही कर डालता है।"

तम्बाकू में निकोटीन नामक विष पाया जाता है। यह भी बहुत भयानक होता है। अन्य भंग आदि पदार्थ तो साक्षात् ही विष और हानिकर हैं। इन पदार्थों का अपने को अभ्यासी बनाकर मनुष्य जाति आप ही अपनी वैरी बन रही है। ये सब पदार्थ शरीर में अपने विष का प्रभाव करके उसे अनेक रोगों का घर बना देते हैं और अकाल मृत्यु का कारण होते हैं। चूना कत्था लगे पान चबाते रहने की प्रथा भी त्याज्य है। यह दांतों के लिए अत्यन्त हानिकारक है।

भोज्य पदार्थों का निर्णय हो जाने पर यह विचारना भी आवश्यक है कि भोजन कब, कितना और कैसे करना चाहिए। भोजन एक दिन रात में दो तीन बार से अधिक नहीं करना चाहिए और प्रत्येक भोजन नियत समय पर ही करना चाहिये। इन भोजन समयों में पाँच पाँच घण्टों का अन्तर अवश्य रहना चाहिए, जिससे एक बार का खाया भोजन पच चुके तो आमाशय को कुछ विश्राम मिल जाय। बीच बीच में खाते रहना बहुत हानिकारक है। आमाशय में सब आहार पहुँच चुकते ही वह

उस सबको एक साथ मथना, अपना रस (जो खट्टा होता है) उसमें मिलाकर उसे पाकाशय के योग्य बनाना, आरम्भ कर देता है। इसी को पाचनक्रिया कहते हैं। इस मथन अर्थात् पाचन-क्रिया के पूरा हो जाने पर जब आहार पतले रस के रूपमें हो जाता है तब आमाशय (मेदा) इसे पाकाशय (छोटी आँतों) में ढकेल देता है। आंतों में जाते समय इसमें यकृत का रस पित्त मिल जाता है जो आमाशय-रस की खटास की प्रतिक्रिया उफान तथा सड़न को रोकता है। क्लोम (तिल्ली) से भी निकल कर एक रस उसी समय उसमें मिलता है जो आहार के स्नेह भाग को एक प्रकार के घोल के रूप में बदल देता है, जिससे आहार-रस के अन्य भागों के साथ वह भी आँतों से चूसे जाने के योग्य हो जाता है। वहाँ इस रस का सार रुधिर में मिलकर और शरीर भर में दौड़ कर उसकी पुष्टि करता है और शेष, जो निकम्मा भाग है वह, बड़ी आँत में घूमता हुआ मल-द्वार से बाहर निकल जाता है। अब यदि एक बार खाया हुआ अन्न पच चुकने से पहिले और भोजन वहाँ पहुँचाया जायगा तो पहिला भोजन अधपचा ही आमाशय को पाका-शय में भेजना पड़ेगा, या वह उसी अधपचे में मिल जायगा और सब अन्न के पाचन को बिगाड़ देगा। भोजन सच्ची भूख में ही करना चाहिये। समय पर भी यदि भूख न हो तो कदापि नहीं खाना चाहिये।

भोजन का समय आने पर पेट में खाली होने या एक प्रकार की चुभन सी अनुभव होने को सच्ची भूख नहीं समझना चाहिए। यह अनुभव असाधारण और रोग की दशा का उपलक्षण है और क्षोभ, अपचन, सड़न और रस-स्राव आदि के कारण होता है। सच्ची भूख मुख में होती है। जब लार निकलने लगती है केवल तब भोजन करना चाहिये।

भोजन की मात्रा पर डाक्टरों ने बहुत विचार किया है। आयु, शरीर-भार तथा देश काल और व्यवहार के अनुसार आनुमानिक मात्रा की तालिकाएँ दी हैं। किन्तु प्रत्येक मनुष्य की आवश्यकता में कुछ न कुछ भेद है, अतः उन तालिकाओं से इस प्रश्न का पूर्ण उत्तर नहीं मिल सकता। इस बात को स्वयम् प्रकृति ही बतला देती है। यदि भोजन सीधा सादा, रूखा, प्राकृतिक रूप में हो तो शरीर की आवश्यकता पूरी हो जाने पर मुख में लार का आना बन्द हो जाता है और भोजन से मन हट जाता है। किंतु अस्वाभाविक और खाँड, मिर्च, मसाला, घी दूध आदि मिलाकर बनाए हुए भोजन या नाना भाँति के भोजन एक ही समय खाने से अध्यशन (अति भोजन) हो जाना सहज है। अध्यशन से बहुत हानि होती है। आवश्यकता से अधिक खाया हुआ भोजन पूर्णतया नहीं पचता, अधपचा रहता है। उससे शरीर में सड़न और विषैले पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं जो रोगों का कारण बनते हैं। इसीलिये आदिधर्मशास्त्रकार महर्षि मनु ने कहा है—

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥

अर्थ—अतिभोजन रोग को उत्पन्न करने वाला, आयु को घटाने वाला, दुख देने वाला, अपवित्रता लाने वाला और संसार में निन्दित है; इसलिए उसको त्याग देना चाहिए।

युवावस्था के पीछे आयु के चढ़ने के साथ आहार का कम कर देना अति वांछनीय है। वृद्धावस्था के आरंभ होने पर शरीर घटने लगता है, भोजन को पचाने, सात्म करने और मलों को निकालने वाले अवयव निर्बल होने लगते हैं, इसलिए बुढ़ापे में अधिक खाना मृत्यु को शीघ्र बुलाना है। कम खाने से उतने मनुष्य नहीं मरते जितने अधिक खाने से मर रहे हैं।

एक समय के भोजन में एक या दो पदार्थ हों, तब ही ठीक रहता है।

भोजन को मुख में रख कर दाँतों से खूब चबाना चाहिए। दांत ईश्वर ने इसी काम के लिये बनाए हैं। यदि इन से काम नहीं लिया जायगा और भोजन को पूर्णतया चबाये बिना कण्ठ से नीचे उतारा जायेगा तो पाचन (पचाने वाले अङ्गों) पर काम का बोझ बढ़ जायेगा और दांतों का काम भी उन्हें ही करना पड़ेगा। इस दशा में शनैः शनैः वे निर्बल और अपना कार्य भी करने में असमर्थ हो जायंगे, फलतः अपाचन (बदहजमी) और कोष्ठबद्ध (कब्ज) होकर अनेक रोगों का जन्म होगा। मुख में

यथेष्ट समय तक भोजन का चबाना इसलिये भी आवश्यक है कि ग्रास में लार की पर्याप्त मात्रा मिल जाए। मुख की लार भी एक पाचक रस है। भोजन में जितना श्वेतसार (निशास्ते) का अंश होता है उसका रूपान्तरीकरण वा पाचन यहीं से प्रारम्भ होता है। यह रस उस श्वेतसार को द्राक्षौज (अंगूरी शकर) के रूप में बदल देता है। श्वेतसार द्राक्षा-शर्करा के रूप में परिवर्तित हुए बिना हमारे शरीर का अङ्ग नहीं बन सकता वा यों कहिये कि वह अपने अपरिवर्तित रूप में पच नहीं सकता। रोटी का ग्रास मुख में भले प्रकार चबाने और इस लाला वा राल नामक रस के मिलने से मीठा हो जाता है। इस रस की प्रतिक्रिया खटास से होती है। यदि भोजन में खट्टी वस्तुयें आचार, चटनी आदि खाई जायंगी तो इस रस का गुण क्षीण हो जायगा। आजकल बहुतसे लोग भोजन को खाते नहीं, निगलते हैं। मुख में रक्खा और चट कण्ठ से नीचे उतार दिया। भोजन के साथ में रसीले पतले शोरबा या दुग्ध आदि पेय पदार्थ इसी लिये नहीं खाने चाहियें क्योंकि उनके साहचर्य से भोजन बिना चबे और लार मिले शीघ्र ही कण्ठ से नीचे को धकेला जाता है। जो लोग दुग्धपान करें, वे उसको अन्य भोजन में मिला कर वा उसको उसके साथ साथ न पियें, किन्तु पृथक ही घूँट घूँट करके और कुछ देर मुख में रख कर पियें, जिससे

उसमें लार मिलती रहे, शीघ्र शीघ्र पीने से लार न मिल कर उसके पाचन में भी कठिनता होगी।

पानी

पानी भी शरीर के लिए अत्यावश्यक और बहुत हितकारी है। यह पिया जाता है और नहाने धोने के काम भी आता है। सब प्राणियों के शरीर का यह आवश्यक अंश है। यह प्रत्येक तथा हमारे रोमकूपों से पसीने के रूप में, फेफड़ों से श्वास में मिला हुआ वा गुर्दों से मूत्र के रूप में बाहर निकलता रहता है। इस कमी की पूर्ति के लिये पानी पिया जाता है। जब शरीर में पानी की मात्रा कम होती है तब वह उसको माँगता है। इसी माँग को प्यास कहते हैं। यदि शरीर की यह माँग पूरी न की जाय तो उसको हानि पहुँचती है। उसकी पेशियों (पट्ठों) का बल घटने लगता है और श्रम करना कठिन होजाता है। किन्तु जल पीने पर पुनः बल और स्फूर्ति आ जाती है। भोजन के बिना तो मनुष्य कई मास जीवित रह सकता है किन्तु पानी के बिना कुछ दिनों में ही तड़प तड़प कर मर जाता है। इसी लिए संस्कृत में पानी को 'जीवन' (जीवित रखने वाला) कहते हैं। शरीर इंजिन के समान है। जैसे उसको गति में रखने के लिए आहार (कोयला), पानी और हवा की आवश्यकता होती है, वैसे ही शरीर को भी बनाए रखने के लिए ये पदार्थ

आवश्यक हैं। शरीर में भोजन के साथ कार्बन और श्वास के द्वारा ऑक्सीजन जाती रहती है। कारबन और आक्सीजन दोनों वायवीय पदार्थ (Gas–गैस) हैं। इन दोनों के मेल से दाह उत्पन्न होता रहता है। इस दाह को यथोचित मात्रा में रखना और अधिक न बढ़ने देना जल का ही कार्य है। ज्वर और श्रम करने की दशा में श्वास का वेग बढ़ जाने से आक्सीजन अधिक मात्रा में पहुँच कर शरीर के दाह को बढ़ा देता है, इस कारण उस समय इस अधिक दाह को बस में रखने के लिये अधिक जल की इच्छा होती है। ताप का स्वभाव है कि वह ठंढ की ओर जाया करता है। इसी कारण कोई ठंडी वस्तु आग पर रख देने से गर्म हो जाती है अर्थात आग की उष्णता उस वस्तु की शीतलता में चली जाती है। जब कोई उत्तप्त वस्तु आग से हटा दी जाय तो उसकी गर्मी उसमें से निकल निकल कर समीप की वायु को गर्म कर देती है। यही दशा शरीर की है। जब शरीर के समीप शीतल वायु या अन्य किसी प्रकार की ठंड हो तो शरीर का ताप उस ठंड की ओर जा कर कम होने लगता है और ताप कम हो जाने से प्यास कम लगती है। जैसे जाड़ों की ऋतु में जब आस पास का वायु शरीर की अपेक्षा ठंडा रहता है तो यही दशा होती है। अन्य किसी प्रकार से जब वायु अधिक गर्म होने के कारण शरीर से गर्मी का निकलना बन्द या कम हो जाता है तो प्यास भी अधिक लगती है। अत्यधिक उष्ण परिस्थिति में किसी

बहुत गर्म दिन या वाष्प-स्नान के समय बाह्य-त्वचा को अधिक ताप से बचाने के लिए शरीर से पसीना निकला करता है।

जल शरीर में वहन-क्रिया भी करता है' अपने वहन-स्वभाव के कारण वह शरीर की सब नालियों, उपनालियों में सदैव भ्रमण करता रहता है। रुधिर के रक्त-कणों और आहार के सार अंशों को जल ही शरीर के समस्त अंगों में पहुंचा कर उसके पोषण में सहायक होता है। शरीर से मल के निकालने और फेंकने में भी यही सहायक है। यह मल यदि शरीर से न निकले तो उसके लिए विष स्वरूप है। मल तीन मार्गों से शरीर से बाहर निकलता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है वह (१) वृक्कों (गुर्दों) से मूत्र के रूप में, (२) रोमकूपों से पसीने के रूप में और (३) फुफ्फुसों (फेफड़ों) से नासा-रन्ध्रों (नथनों) के द्वारा श्वास के साथ बाहर निकलता रहता है। अपच भोजनों के साथ भी पानी की पर्याप्त मात्रा रहती है जो उसको आँतों में सरकने और गुदा मार्ग से विष्ठा के रूप में निकलने के योग्य बनाती है।

पीने के जल का विशेषतया शुद्ध होना नितांत अभीष्ट है। विषूचिका, विषम ज्वर, आमातिसार और कई अन्य रोग पानी के विकार से भी उत्पन्न हो जाते हैं। पानी के बिगड़ने का मुख्य कारण गन्दी नालियां, परनाले और चौबच्चे आदि वा खात कूड़े और विष्ठा के ढेरों का मल होता है। जब कुँवे, नल वा जलाशय के समीप ये गन्दे स्थान होते हैं तो इन के मल-परमाणु

भूमि में सोख कर नीचे नीचे ही पानी के स्रोत में पहुंच जाते हैं, इसलिए उनको जलाशयों से इतनी दूर रखना चाहिए कि उनका मल भूमि में सोख कर जल के सोते तक न पहुंच सके। कुंवों और नलों को भूमि में बहुत गहरा ले जाना चाहिए। उथले कुँवों तक निकट की भूमि का मल पहुंचना सुगम होता है। इस की रोक के लिए कुँवों की दीवारें पूर्णतः पक्के मसाले से लीपनी चाहिए और नल भी इस प्रकार के हों और उनके जोड़ बहुत पक्के जोड़े जाँय कि भूमि की ऊपरी तहों का पानी और उसके साथ का मल दीवारों या नल में रिस कर अन्दर न जा सके। बदरौ, चौबच्चे, परनाले और मैला इकट्ठा करने के स्थान भी पक्के बनवाने चाहिए। उनकी दीवारों और नीचे की भूमि पर पक्की लिपाई करनी चाहिए जिस से उनकी आर्द्रता मल लेकर भूमि में न सोख सके। विषूचिका (हैजे) आदि के बीमारों के विष्ठा, मूत्र, मुख और नासिका से निकले हुए खकार आदि मलों को रखना नहीं चाहिए, न इधर उधर डालना चाहिए। इनको तो तुरन्त जला कर नष्ट कर देना चाहिए। इनकी छूत से कई रोग दूसरों को शीघ्र लग जाते हैं। ऐसे रोग के फैले हुए होने की दशा में पानी को उबाल कर पीना उत्तम होगा। कई स्थानों के पानी में उस स्थान की भूमि का चूना वा अन्य कोई धातु घुला होता है जिससे वह पानी रोगोत्पादक हो जाता है। ऐसे पानी को नहीं पीना चाहिए। इसको फिल्टर (पानी छानने के यन्त्र)

में शुद्ध कर लेना चाहिए। पीने के लिए वर्षा का पानी स्वच्छ पात्रों में भर कर रख लेना चाहिए।

जल बहुतसा एक बार ही नहीं पी जाना चाहिए, किन्तु जब प्यास लगे तब उसकी अल्प मात्रा ही धीरे धीरे पीनी चाहिए। एक दम अधिक पानी पी जाने से आमाशय का पाचक रस उस में अधिक घुल जाता है और इससे पाचन-क्रिया में विघ्न पड़ता है। जो लोग भोजन में फल और शाक ही खाते हैं उनको प्यास बहुत कम लगती है, क्योंकि उनमें पानी की पर्याप्त मात्रा होती है और यह पानी शुद्ध होता है। उसमें किसी प्रकार की हानि का भय नहीं है। प्यास अधिकतर उनको ही लगती है जो भोजन में लवण, मिर्च, मसाले, खांड वा अधिक अन्न का व्यवहार करते हैं। भोजन के साथ पानी नहीं पीना चाहिए। भोजन के साथ पानी पीने से भोजन का पाचन समुचित रीति से नहीं होता है। यतः पाचन का कार्य मुख की लार और आमाशय रस करते हैं, अतः इस समय पानी पीने से इन रसों का स्थान पानी ले लेता है।

प्रातःकाल सब से पहिले नियमेन एक गिलास पानी पीना हितकर होता है। इस समय आमाशय खाली होता है। उसको यह पानी धो डालता है। इस समय यह जल, विशेषकर अधिक जाड़े के मौसम में, ठंडे की अपेक्षा उष्ण अधिक हितकारी होता है। यह बलकारक भी होता है। प्रातः काल के स्थान में इस प्रकार जल-पान भोजन से

आधा वा एक घंटा पूर्व भी लाभ करता है। किन्तु भोजन के साथ वा उस के पीछे न्यूनसे न्यून एक घण्टे तक जल नहीं पीना चाहिए। शुद्ध जल के सिवाय सोडा लिमोनेड आदि जो अनेक अन्य पेय पदार्थ चल पड़े हैं उनको कभी नहीं पीना चाहिए। वे हमारी स्वाभाविक पाचन-शक्ति के शत्रु हैं।

पानी का दूसरा उपयोग नहाने धोने में होता है। समस्त शरीर की ऊपरी त्वचा में असंख्य अति लघु सूक्ष्म छिद्र हैं जो रोमकूप कहलाते हैं। ये आँख को सूक्ष्मदर्शक यन्त्र की सहायता के बिना नहीं दीख सकते। शरीर की रचना बहुत छोटे छोटे सूक्ष्म कोष्ठों और तन्तुओं से हुई है जो सदैव घिसते, टूटते और आहार के पोषण से नए बनते रहते हैं। रुधिर आहार के पचे हुए पोषक अंश को समस्त शरीर में पहुँचाता है, जिस से नई रचना होती रहती है। घिसे और टूटे कोष्ठों के द्रव्य को निकालने का कार्य भी रुधिर करता है। यदि यह मल-द्रव्य सदा न निकलता रहे तो विष-रूप हो जाता है और नाना रोगों का कारण होता है। ईश्वर ने उसके निकालने के लिए जो साधन रक्खे हैं उनमें से शरीर के ये असंख्य रोमकूप भी इस मल को रुधिर में से बाहर निकालते रहते हैं। यह कार्य सदा होता रहता है। किन्तु सामान्य दशा में इन छिद्रों से इतना कम जल निकलता है कि निकलने के साथ ही वह भाप बन कर बाह्य वायु में मिल कर अदृश्य हो जाता है।

किन्तु ग्रीष्मऋतु के गरम दिनों में, परिश्रम करने पर वा किसी रोग के कारण, जब इन छिद्रों से इतना अधिक जल निकलता है कि तुरन्त भाप नहीं बन सकता, तब वह हमको पसीने के रूप में दीखने लगता है। इस जल में भी मल मिला हुआ निकलता है।

जिन छिद्रों से बाल उगते हैं वे छिद्र शरीर से सदा चिकनाई उगलते रहते हैं, जिस से बाल कोमल चिकने और चमकीले रहें। हमारी त्वचा सदा बदलती रहती है। पुरानी घिसती रहती है और उसके नीचे नयी बनती रहती है। पुरानी घिसी हुई त्वचा भी मैल है जो धुलती रहनी चाहिये। शरीर पर बाहर से भी धूल और मल जमता रहता है, जिसको धोकर साफ न किया जाय तो उपर्युक्त मलों के साथ वह सब त्वचा के इन सूक्ष्म छिद्रों में अटक कर उन्हें बन्द कर देता है और वे मल निकालने का अपना आवश्यक कार्य करने में असमर्थ हो जाते हैं। उस दशा में स्वास्थ्य को जो हानि पहुंच सकती है वह बहुत अधिक होती है। खुजली, दाद, फोड़े फुन्सी आदि त्वग्रोग प्रायः त्वचा का मैल साफ न किये जाने से ही होते हैं। इस मैल को धोने के लिये स्नान अति आवश्यक है।

उष्ण जल का स्नान मल को तो खूब यथेष्ट निकालता है पर शरीर को निर्बल करता है। शीतल जल का स्नान बहुत शक्तिप्रद है और थकान को दूर करता है। किन्तु इसमें सावधानी की आवश्यकता है। शीतल जल से स्नान करने पर क्षण मात्र के

लिये ही शीत का अनुभव होता है, तत्पश्चात् शरीर का ताप बाह्य त्वचा को शीघ्र उष्ण कर देता है। इसलिये ठण्डे पानी में स्नान करने से डरना नहीं चाहिए। जिनकी पुनः शीघ्र उष्णता लौट आने की यह शक्ति क्षीण हो गई हो उन्हें प्रथम थोड़े गर्म पानी से स्नान आरंभ कर के धीरे धीरे शीतल जल से स्नान का अभ्यास करना चाहिए। शरीर गर्म हो या पसीना आ रहा हो तो शीतल जल से स्नान करने में कोई भय न करना चाहिए। यदि शरीर बहुत थका हुआ न हो या सांस न उखड़ रहा हो तो शीतल जल के स्नान से कोई हानि नहीं पहुंच सकती। जिस समय शरीरको ठंड लग रही हो तब शीतल जलसे स्नान करने के पूर्व कुछ व्यायाम करके शरीर को गर्म कर लेना चाहिए। कपड़े या हाथ की रगड़ से भी शरीर गर्म हो जाता है। शीतल जल के स्नान से यदि शीघ्र शरीर में उष्णता न आए तो तुरन्त पुनः कुछ व्यायाम करके शरीर का ताप ठीक कर लेना चाहिए। स्नान में शरीर पर शनैः शनैः पानी की धारा देते हुए शरीर को यथेष्ट मलना और थपकी देना चाहिए। साबुन मल कर नहाने से मल भले प्रकार दूर हो जाता है। स्नान कर चुकने पर तौलिए या मोटे खद्दर से शरीर को खूब रगड़ना चाहिए। शिर के अतिरिक्त शरीर को सर्वथा नहीं सुखाना चाहिए। कुछ आर्द्र रहते ही वस्त्र पहिन लेने चाहिए। उस से शरीर को बहुत लाभ पहुंचता है। स्नान शिर से आरम्भ करना चाहिए। शीतल जल का स्नान

बन्द कमरे में करना चाहिए। कुंवे या नल से तत्काल निकला हुआ जल स्नान के लिए प्रत्येक ऋतु में बहुत उत्तम होता है। वह न अधिक शीतल और न अधिक उष्ण होता है। उस जल से स्नान चाहे कमरे में चाहे बाहर करें, क्षति की सम्भावना नहीं है। बालकों को तो जन्म-दिन से ही नित्य तटके (ताजे) पानीसे स्नान कराना चाहिए। बाहर ठंड में रक्खे रहने से पानी शीतल हो जाता है। इस शीतल जल से युवा और बलवान स्नान करके बहुत लाभ उठा सकते हैं। वह शरीर को सहिष्णु बनाता है। जो लोग सर्दी गर्मी को नहीं सह सकते, जिन्हें ऋतु-परिवर्तनकाल में वा गर्म मकान में से बाहर ठंड में आने पर वा इसके विपरीत ठंड से गर्म धूप आदि में जाने या लू लगने से प्रतिश्याय (जुकाम नजला) या आमवात (गठिया) आदि रोग हो जाया करते हैं, ऐसे मनुष्यों को धीरे धीरे शीतल जल में स्नान करने का अभ्यास बहुत उपयोगी होगा। कुछ काल में ही उनका शरीर सुदृढ हो जायगा और उन पर रोगों का आक्रमण न हो सकेगा। किन्तु शीतल जल का स्नान ऊपर लिखी सावधानी से करना चाहिए।

स्नान प्रतिदिन प्रातःकाल या मध्यान्ह से पूर्व १० बजे करना चाहिए। किन्तु प्रातःकाल का स्नान सुगम और बलप्रद है। ग्रीष्म ऋतु में सायंकाल को भी स्नान करना चाहिए।

स्नान करके तुरन्त भोजन नहीं करना चाहिए। आधा घन्टा बिता कर करना चाहिए। भोजन करके भी जब तक डेढ वा

दो घण्टे न बीत जायें स्नान नहीं करना चाहिए। इसके विपरीत करने से पाचन को धक्का लगता है।

जो लोग नित्य ताज़े वा शीतल जल से स्नान करते हैं, मास में दो तीन बार उनको किंचित उष्ण जल से, जो शरीर के ताप से अधिक उष्ण न हो, स्नान करना हितकारी होगा। इससे स्वस्थ और नीरोग रहने में सहायता मिलती है, क्योंकि यह स्नान मल निकालने में उपयोगी है। पूर्व लिखित रीति से उष्ण जल से शरीर को खूब मल और साफ़ करके पुनः तत्काल ठंडा पानी शरीर पर डाल कर स्नान समाप्त करना चाहिए। उष्ण जल के स्नान को शरीर पर ठंडा पानी डाले बिना समाप्त नहीं करना चाहिए। उष्ण जल के स्नान से जो ताप बढ़ जाता है वा निर्बलता होती है, उसे ठंडा पानी उसी समय शान्त कर के सम अवस्था में कर देता है और त्वचा को सुदृढ़ बना देता है। इस समय ठंडे पानी से घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है। रोगों की चिकित्सा में न्यूनाधिक शीतल वा उष्ण जल से पूरे शरीर को वा अंग विशेषों को कई प्रकार से स्नान कराया जाता है, किन्तु उन सब का सम्बन्ध रुग्णावस्था से ही है। प्राकृतिक नियमों के अनुसार आहार व्यवहार रखने वालों को उनकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती। अतः उनका वर्णन यहां न करके अन्यत्र उचित स्थान में किया जायगा।

समस्त शरीर के स्नान के अतिरिक्त मुख और हाथ पैरों को कई बार धोना चाहिए, क्योंकि ये अंग प्रत्येक समय खुले रहते हैं और इन पर मैल या धूल लगने का अवसर बहुत रहता है। मुख धोने के समय (दिन में दो बार तो अवश्य ही) लोटे, कटोरे या किसी अन्य पात्र में ऊपर तक शीतल जल (गर्म कभी नहीं) भर कर आंख के पपूटे को कुछ काल पानी में रख कर स्नान कराना चाहिए। इससे नेत्रों की ज्योति स्वाभाविक बनी रहती है और नेत्र-विकार नहीं होते।

नेत्रों को इस प्रकार धो कर न्यून से न्यून दस बारह घूंट शीतल जल नासिका के छिद्रों में चढ़ा कर कंठ के छिद्रों से निकालना चाहिए। इससे श्वास-प्रणालियों का शोधन होता रहेगा और प्रतिश्याय तथा कास (नजला, जुकाम, बलगम और खांसी) से बचाव होगा।

मुख धोने के साथ, विशेषतः भोजनानन्तर, दांतों को खूब साफ करना चाहिए। दांतों में जो भोजन के उच्छिष्ट-कण अटके रह जाते हैं उनको यदि दूर करके दांतों को स्वच्छ न किया जाय तो वे सड़ कर मुखमें दुर्गन्ध उत्पन्न करते हैं और दांतों और मसूड़ों को हानि पहुंचाते हैं। दांतों में कीड़े हो जाते हैं और उनको शनैः शनैः खोखला कर देते हैं। मसूड़ों का मांस गलने और क्षीण होने लगता है जिससे दांत हिलने लगते और समय से पहिले गिर जाते हैं। इसी को कृमिदन्तक कहते हैं और यही

आज कल ६० प्रतिशत फैलते हुए शीताद वा दन्तस्राव (Pyorrhea) रोग का कारण है। प्रातःकाल दातुन वा बुरुष से यथेष्ट दन्त-शुद्धि करनी चाहिए। दातुन का अग्र भाग पत्थर आदि से कूट कर वा चबा कर सुकोमल बना कर प्रयोग में लाना चाहिए। कठोर दातुन से मसूड़ों पर आघात पहुँचता है।

शुद्ध वायु

जीवन के लिए शुद्ध वायु की आवश्यकता सब से बढ़ कर है। हम वायु को श्वास (साँस) द्वारा अपने शरीर में पहुँचाते रहते हैं। यदि वायु का सर्वथा अभाव हो तो दम घुट कर मृत्यु हो जाती है। अशुद्ध वायु में साँस लेने से रोग उत्पन्न होते हैं। शुद्ध वायु में एक चौथाई ऑक्सीजन होता है। इसका यह अंश ही जीवनप्रद है। शेष भाग नाइट्रोजन होता है जो द्रवणशील (घुलने वाले) पदार्थ है। इसका मेल वायु में इस चतुराई से किया गया है कि ऑक्सीजन शरीर में शरीर की आवश्यकता से अधिक न जा सके। वायु में कार्बन नामक पदार्थ भी होता है, जो जीवन के लिए घातक विष है, किन्तु इसकी मात्रा शुद्ध वायु में इतनी स्वल्प होती है कि वह हानि नहीं कर सकता।

परमात्मा ने शरीर की रचना इस प्रकार की है कि श्वास (सांस) द्वारा भीतर पहुँचाई हुई वायु की ऑक्सीजन को तो

फेफड़े ले लेते हैं, और कार्बन को उगल देते हैं। फेफड़ों की बनावट स्पंज के समान है। इनमें असंख्य छोटे छोटे कोष्ठ होते हैं। इन कोष्ठों में बहुत सूक्ष्म नल लगे हुए हैं, जो सब एक बड़े नल से जाकर मिलते हैं। दोनों फेफड़ों के ये नल परस्पर मिल कर दो मार्गों से नासिका के नथुनों में और कंठ द्वारा मुख में बाहर जाकर मिलते हैं। दूसरे प्रकार के सूक्ष्म नल फेफड़े से हृदय की ओर आने और जाने वाले पृथक पृथक हैं। हृदय से नल और नलियों का एक और जाल शरीर के समस्त अंगों और प्रत्यंगों में फैला हुआ है, और एक दूसरा जाल वहाँ से हृदय की ओर आता है। यह बतलाया जा चुका है कि शरीर की रचना के घिसे और टूटे अंशों का तथा भोजन के अपच और अस्वीकृत अंश का मल रुधिर में मिल जाता है। समस्त शरीर का मल मिला हुआ यह रुधिर हृदय की ओर आने वाले नलों से हृदय में पहुँचता है। हृदय उसे शुद्धि (सफ़ाई) के लिए फेफड़ों में भेजता है। वहाँ फेफडे इस रुधिर में से मल अलग करके उसे कार्बन के साथ ही बाहर आते हुए श्वास द्वारा बाहर निकालते रहते हैं और रुधिर को शुद्ध करके उसमें वायु का आक्सीजन मिला कर पुनः दूसरे नलों से हृदय में भेजते रहते हैं और वहां से वह समस्त शरीर में पहुंच जाता है। शुद्ध रुधिर रक्त-वर्ण (लाल) और अशुद्ध रुधिर कुछ काला होता है। जो नालियां अशुद्ध रक्त को निकालती

हैं उनमें मैला रक्त होने के कारण उनका रंग नीला दीखता है। इस प्रकार की कई नालियां शरीर में बाहर से भी दीखती हैं।

कोई दहन-क्रिया ऑक्सीजन के बिना नहीं हो सकती और दहन से ही कार्बन बनता है। हमारा जीवन शरीर के आभ्यन्तर ताप पर ही निर्भर है। समस्त जीवन भर शरीर में दहन क्रिया होती रहती है। केवल मृत्यु के पश्चात शरीर निस्ताप वा सर्वथा ठंडा हो जाता है। जैसे किसी भट्टी की आग को प्रदीप्त रखने के लिए धोंकनी से वायु पहुंचाई जाती है वैसे ही फेफड़े श्वास द्वारा वायु को लेते रहते हैं। वायु ग्रहण करने (श्वास लेने) के समय वे फूलते और उसे लौटाने के समय वे सिकुड़ते हैं। यह चक्र बराबर चलता रहता है, सोते जागते किसी समय बन्द नहीं होता।

शरीर सोने के समय जाग्रतावस्था में व्यय हुई कार्य-शक्ति को पुनः संग्रह करने की चेष्टा करता है, अतः उस समय अधिक शुद्ध वायु की आवश्यकता होती है। इसीलिए सोने के समय श्वास लम्बा और गहरा चलता है। इसीसे स्पष्ट है कि सोने के स्थानों में पर्याप्त वायु का संचार होना चाहिये। जिन मकानों में लोग आजकल प्रायः सोते हैं उनमें वायु के आने जाने के लिये यथेष्ट मार्ग नहीं रक्खा जाता। इसका परिणाम यह होता है कि बाहर से नयी शुद्ध वायु तो पर्याप्त मात्रा में उनमें आती नहीं; रुकी हुई वायु में, जिसमें प्रति क्षण हमारी श्वास-द्वारा

उगली हुई गंदगी मिलती रहती है, हमें पुनः पुनः साँस लेना पड़ता है। वही मैला लौट लौट कर शरीर में जाता रहता है। कई कमरों में अनेक मनुष्य सोते हैं या किन्हीं कमरों-मकानों में बहुत से मनुष्य एक साथ इकट्ठे हो जाते हैं। इनमें कई लोग रोगी, छूत वाले भयंकर रोगों से ग्रस्त भी हो सकते हैं। अब यदि इन कमरों में इतने लोगों के श्वास लेने के लिये पर्याप्त वायु का गमनागमन संभव नहीं तो सब मनुष्यों के सांस में निकली गंदगी उस कमरे की वायु में रुकेगी और उसीमें सबको सांस लेना पड़ेगा। यह अवस्था कितनी भयानक है। इस दशामें मनुष्य अपनी ही नहीं, वरन अन्यों की, रोगियों तक की, भी गंदगी को पुनः पुनः श्वास से पीते रहते हैं। इस कारण यदि सोए मनुष्यों के शिर में जगने पर पीड़ा न हो तो आश्चर्य ही है। यदि हम इस गंदगी को आंखसे देख सकते तो कभी कोई मनुष्य दूसरों की तो क्या, अपनी उगली हुई गन्दगी को भी पुनः लेना पसन्द न करता।

जिन कमरों में मनुष्यों का समूह हो, या वे सोते हों, उन कमरों में यदि अँगीठियां, लैम्प, लालटैनें भी जलती रहें, तो इनके जलने से उत्पन्न हुआ कार्बन भी उस कमरे की वायु में मिलकर उसको अधिक दूषित कर देता है। कई बार बन्द कोठरियों में मनुष्यों ने अज्ञान से पत्थर के कोयले अँगीठी में

जला कर रक्खे, जाड़ों की रात में कोठरी बन्द करके सो गए और प्रातःकाल वे मरे हुए पाए गये।

अतः यह नितान्त आवश्यक है कि भवनों (मकानों) में वायु के संचार के लिए द्वार और वातायन पर्याप्त रहने चाहियें और सोते समय उनको बन्द नहीं करना चाहिए। द्वार और वातायन इस प्रकार के होने चाहिए कि उनमें को होकर आई हुई वायु के झोंके सीधे सोने वालों पर आक्रमण न करें, तथापि इन झोंको से इतना भय नहीं है जितना कि वायु के कमरे में न पहुँच सकने से है। बन्द कमरे की अपेक्षा तो बाहर खुली वायु में सोना श्रेयस्कर है। शीत-निवारणार्थ पर्याप्त वस्त्र ओढ़ा जा सकता है।

सोने में मुख और नासिका को भारी वस्त्र से कभी नहीं ढाँकना चाहिए। जो लोग सोते हुए जाड़ों में रज़ाई और लिहाफ़ों से मुख को ढाँप कर सोने के अभ्यासी हो गए हैं उनको प्रतिश्याय (नज़ला जुकाम) अवश्य सताया करता है वा कालान्तर में कष्ट का कारण होता है।

आज कल रोगियों को वायु से बहुत बचाया जाता है। जहाँ ज्वर आया घर में बन्द कर दिया जाता है। यह नितान्त अनुचित है। रोग की दशा में तो, विशेषतः ज्वरादि में जब शरीर का ताप बढ़ जाता है, नई और शुद्ध वायु की अधिक मात्रा में

आवश्यकता है। अतः जिस गृह में रोगी हो वहाँ वायु के पर्याप्त संचार का पूर्ण प्रबन्ध होना चाहिए।

निवासगृहों के आस पास वृक्षों और वनस्पतियों की विद्यमानता सौन्दर्य वृद्धि के साथ साथ वहां की वायुको स्वच्छ रखती है। वनस्पतियों को अपने जीवन के लिए सदैव कार्बन की आवश्यकता रहती है। वृक्षादि अपने जीवन के लिए वायु में से कार्बन को खींचते रहते हैं और अपने भीतर से ऑक्सीजन गैस (प्राणप्रद पवनांश) बाहर निकालते रहते हैं जो जंगम प्राणियों के लिए अत्यन्त हितकारक है। अहो ! परम पिता परमात्माने किस परम प्रवीणता से इस सृष्टि की रचना की है ! जंगम प्राणियों के श्वास से कार्बन निकल कर स्थावर प्राणियों (वनस्पतियों) का पोषण करती है तथा इनमें से ऑक्सीजन निकल कर जंगम जगत को जीवित रखती है ! यदि ऐसा सुप्रबन्ध न रहता तो संसार के इतने मनुष्य और जीव जन्तुओं के श्वासों से चिर-काल से उगला हुआ कार्बन, वायु को इतनी दूषित और विषाक्त बना देता कि इनका जीवित रहना कठिन ही नहीं, प्रत्युत असंभव हो जाता।

व्यायाम

शरीर को स्वस्थ रखने के लिए उसके प्रत्येक अंग — सब संधियों (जोड़ों) और मांसपेशियों (पुट्ठों) — का नियमित रूपसे क्रियाशीलता, संचालन वा प्रगति में रहना भी आवश्यक है। कोई

यन्त्र (मैशीन या औजार) बिना चले पड़ा रहे तो उसमें जंग (मल) लग जाता है और कुछ दिनों में वह निकम्मा हो जाता है। यही दशा शरीर की है। इसके अवयव भी न चलने से मैल से लद जाते हैं और कुंठित हो जाते हैं। आप अपने किसी हाथ या पैर को एक दो दिन भी सर्वथा निश्चल रक्खें तो पुनः उसे चलता करने में आप को कठिनाई होगी और पीड़ा का अनुभव होगा। हाथ या पैर के निश्चल रहने से कुंठित या सुस्त हो जाने का तो हम को सहज ही में अनुभव हो जाता है किन्तु शरीर में जो अनेक सन्धियां (जोड़), मांसपेशियां (पुट्ठे) और मांसपिंड हैं उनका संचालन न होने से स्वास्थ्य को जो क्षति पहुंचती है उसका अनुभव हमें सहसा नहीं होता। शरीर के प्रत्येक अंग, जोड़, पुट्ठे और मांसपिंड गिल्टियों में रुधिर-वाहिनी नाड़ियों का जाल सा पुरा हुआ है। इन नाड़ियों का एक जाल मैले रुधिर को समस्त देहसे लेकर स्वच्छ होने के लिए हृदय और फेफड़ों में पहुँचता है। वहाँ से वह रुधिर श्वास की वायु के साथ मल को बाहर निकाल कर और नई वायु को लेकर शुद्ध बन कर दूसरे नाड़ी-जाल से सब शरीर में भ्रमण करता है। इस रक्त से ही शरीर का पोषण होता है। अंगों, संधियों (जोड़ों) और मांसपेशियों (पुट्ठों के चलने से रुधिर की नाड़ियाँ क्रम से सिकुड़ती और फैलती रहती हैं। जब कोई भाग सिकुड़ता है तो उसकी रक्तवाहिनी नाड़ियाँ सिकुड़ कर रुधिर से खाली हो जाती हैं। यह मैला रुधिर होता

है। पुनः जब वह भाग फैलता है तो नाड़ियाँ स्वच्छ किए हुए रुधिर को ग्रहण करती हैं। अतः इस क्रिया के सुचारु रूप से चलते रहने के लिए शरीर के सब भागों का चलते रहना स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य है।

प्रत्येक मनुष्य अपने शरीर से कोई न कोई कार्य करता ही रहता है तो भी, मनुष्यों के व्यवसाय-भेद के कारण, सब के सब अंग यथोचित नहीं चलते रहते। बढ़ई, लुहार आदि के व्यवसाय में उनके हाथों के जोड़ तो बहुत चलते हैं, किन्तु पैरों के जोड़ों को चलने का अवसर कम मिलता है। जो लोग दूकानों पर या दफ़तरों में काम करते हैं उन्हें तो कितने ही अंगों को चलाने का बहुत ही कम अवसर मिलता है। इसके परिणाम-स्वरूप ऐसे मनुष्यों का देह बेडौल हो जाता है। संपूर्ण शरीर को यथेष्ट पोषण नहीं मिल पाता। जो भाग संचालित रहता है उसका पोषण अधिक होता है और जिस भाग का संचालन नहीं होता उसको पोषण कम मिलता है, इसलिए वह भाग पतला दुबला हो जाता है।

अतः सब मनुष्यों को अपने शरीरों को स्वस्थ रखने के लिए प्रत्येक अंग को दिन में दो वा एक बार अवश्य संचालित करना चाहिए। शरीर के सब अंगों को स्वस्थ और पुष्ट रखने के लिए नियमित रूप से उनके संचालन करने को व्यायाम कहते हैं। भोजन कर के तीन चार घण्टे बीतने से पूर्व व्यायाम नहीं करना

चाहिए। व्यायाम करके भी तत्काल भोजन नहीं करना चाहिए। व्यायाम की उष्णता वा श्रान्ति जब न रहे तब भोजन करना चाहिए।

व्यायाम करने से शरीर पुष्ट, सुडौल और सुदृढ़ तथा नीरोग रहता है, भूख खूब लगती है, पाचन ठीक होता है, मल शरीर से निकलता रहता है, आलस्य (सुस्ती) नहीं आता, मन प्रसन्न रहता है। किन्तु व्यायाम ऐसा होना चाहिए जिस से शरीर के प्रत्येक भाग का संचालन होता रहे। इस उद्देश्य को लक्ष्य में रख कर व्यायाम के बहुत से प्रकार प्रचलित किए गए हैं और उनमें नए नए आविष्कार हो रहे हैं। प्रत्येक प्रकार को अन्य सब से अच्छा कहा जाता है, किन्तु लक्ष्य सब का एक ही है और प्रत्येक प्रकार से वह न्यूनाधिक पूरा भी हो जाता है। किसी प्रकार से भी हो, व्यायाम करना अवश्य चाहिए।

भारत-वासियों के लिए तो, मेरे विचार में, दंड और बैठक बहुत उपयोगी हैं। इन से प्रायः शरीर की सब संधियों (जोड़ों) का व्यायाम हो जाता है। भारत में विविध प्रकार के आसन भी प्राचीन काल से प्रचलित हैं। ये भी उत्तम व्यायाम हैं।

आसन अनेक प्रकार से किए जाते हैं और उनके बहुत से नाम हैं। उनमें सर्वाङ्ग और शीर्ष आसन बहुत ही लाभप्रद हैं। इनको अवश्य करना चाहिए। सर्वाङ्ग आसन से पाचन खूब होता है और कोष्ठबद्ध (कब्ज) नहीं होता।

शीर्षासन समस्त देह की नाडियों को ठीक कर देता है और मस्तिष्क, नेत्र तथा श्रवण की शक्ति को सुरक्षित रखता है।

व्यायाम के प्रकारों और आसनों का वर्णन इस पुस्तिका में नहीं किया जायगा। इस पुस्तिका का अतिविस्तार अभीष्ट नहीं है। पाठक अपनी अपनी रुचि के अनुसार जिस व्यायाम को पसन्द करें उसकी पुस्तक लेकर देख सकते हैं। पाठकों की जानकारी के लिए कुछ पुस्तकों का पता यहां दिया जाता है:—

१-**सचित्र सूर्य-नमस्कार**—मूल्य १।), मैनेजर, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।

२—**सचित्र स्वास्थ्य-रक्षा**—मूल्य १॥), जयपुर प्रिंटिंग वर्क्स, चौड़ा रास्ता, जयपुर सिटी (राजपूताना)।

३—**योगासन**—लेखक श्री० स्वामी रामानन्द, प्रकाशक—अमीचंद विद्यालंकार, नम्बर २ प्रयाग स्ट्रीट, प्रयाग। मूल्य चार आने।

४—**स्वास्थ्य और योगासन**—पं० विद्याभास्कर शुक्ल कृत। मूल्य १), साहित्य निकेतन, दारागञ्ज, प्रयाग से प्राप्य।

व्यायाम का अभ्यास केवल पुस्तकों से पूर्णतया सिद्ध नहीं होता। यह क्रियात्मक विषय है। उसके ज्ञान की प्राप्ति उसके किसी विशेषज्ञ (जानकार) से ही सुगमता-पूर्वक और निर्भ्रान्त हो सकती है।

व्यायाम खुले मैदान में करना चाहिए। जाड़ों में अधिक शीत हो और व्यायाम कमरे में ही करना पड़े तो कमरे के द्वार और खिड़कियाँ खुली रहनी चाहिएं और इनके सामने व्यायाम करना चाहिए। व्यायाम के समय शरीर पर लंगोट या जांघिया या इसी प्रकार के किसी वस्त्र के अतिरिक्त और कोई वस्त्र नहीं पहिनने चाहिएं। व्यायाम से शरीर इतना तप्त हो जाता है कि शीत लगने का भय नहीं करना चाहिए।

व्यायाम के पश्चात तुरन्त ताजे पानी से स्नान करना बहुत बलप्रद है। शरीर के उष्ण होने पर ठंडे पानी से स्नान करते हुए लोग डरा करते हैं। उनका यह भय ठीक नहीं है। पसीना भी आ रहा हो तो भी ठंडे पानी से स्नान लाभ ही करता है, हानि नहीं करता। किन्तु व्यायामसे शरीर बहुत थक गया हो या श्वास उखड़ रहा हो तो थकान के दूर होने और श्वास के सम हो जाने तक स्नान विलम्बित कर देना चाहिए।

व्यायाम के या स्नान के पश्चात् शीत लगना हानिकर है। अतः व्यायाम से या स्नान से निवृत्त होते ही वस्त्र पहिन लेने चाहिएं। इस समय ठंड नहीं खानी चाहिए।

व्यायाम इतना अधिक नहीं करना चाहिए कि शरीर अति श्रांत हो जाय या श्वास उखड़ जाय। इसका शनैःशनैः ही अभ्यास करना चाहिए। यथोचित व्यायाम से आलस्य नहीं रहता, शरीर में स्फूर्ति आ जाती है और मन में उत्साह भर जाता है। व्यायाम

का अभ्यास करने पर यदि किन्हीं अंगों में कुछ पीड़ा हो, तो उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। दो तीन दिन में व्यायाम के अभ्यास से ही वह पीड़ा बन्द हो जाती है।

दौड़ना और द्रुत-गति से भ्रमण करना भी, विशेषतः प्रातः और सायं काल में, व्यायाम के पूरक हैं। शरीर को मलने, रगड़ने थपकने, मुट्ठी भरने और दाबने से भी व्यायाम हो जाता है। ये मृदु व्यायाम हैं। निर्बलता वा रोग के कारण जो व्यक्ति अंग-चालनात्मक व्यायाम नहीं कर सकते उन्हें ये व्यायाम करने चाहिएं।

शरीर-मर्दन एक कला है। अमेरिका में तो इसके द्वारा रोग भी अच्छे किए जाते हैं। इस विषय की पुस्तकें भी वहां प्रकाशित हुई हैं और कई स्थानों पर इसकी नियमित शिक्षा भी दी जाती है। पर साधारणतः मर्दन-क्रिया को सब कोई जानते हैं।

फुप्फुसों (फेफड़ों) के व्यायाम के लिए प्राणायाम भी आवश्यक है। फुप्फुस (फेफड़े) स्पंज जैसे मांसपिंड हैं। इनमें असंख्य सूक्ष्म छिद्र हैं जिनके द्वारा रुधिर की शुद्धि होती रहती है। शरीर में प्रतिक्षण जो कोष्ठ वा तन्तु घिसते और टूटते रहते हैं वे, आहार-रस का वह अंश जो शरीर-पोषण के लिए उपयोगी नहीं है और शरीर की दाह से उत्पन्न हुआ कार्बन यह सब मल रुधिर में मिला होता है। फेफड़े एक प्रकार के फ़िल्टर वा चलनी हैं जो रुधिर में से इस मल को निकाल निकाल कर

श्वास के साथ वायु द्वारा शरीर से बाहर फेंकते रहते हैं और बाहर से शुद्ध वायु लेकर रुधिर में मिलाते रहते हैं। शुद्ध वायु में ऑक्सीजन होता है जिससे शरीर का ताप स्थिर रहता है। इसलिए शरीर में शुद्ध वायु का पर्याप्त मात्रा में पहुंचना नितांत आवश्यक है। यदि फेफडों का व्यायाम न किया जाय तो उनमें पर्याप्त वायु नहीं पहुच पाता और उनके सब ही छिद्र वायु से नहीं भरते। जो छिद्र खाली रह जाते हैं उनमें संकोचन और प्रसारण क्रिया न होने से वे कुछ दिनों में मल से भर जाते हैं और रुधिर को स्वच्छ करने के योग्य नहीं रहते। शनैः शनैः जब अधिक छिद्र अवरुद्ध हो जाते हैं तब स्वास्थ्य बिगड़ने लगता है और फेफडों का क्षय रोग इसी कारण से होता है। अतः यह आवश्यक है कि दिन में कई बार फेफड़ों का व्यायाम किया जाय। लम्बे और गहरे सांस लेने से फेफड़ों का व्यायाम हो जाता है। इसी को प्राणायाम कहते हैं। प्रातः और सायंकाल दो बार तो प्राणायाम अवश्य ही करना चाहिए।

नगर से बाहर वा नगर में ही कहीं शुद्ध वायु में बैठ कर वा खडे होकर प्राणायाम करना चाहिए। प्राणायाम करते हुए शरीर को सीधा रखना चाहिए। छाती, गर्दन और शिर सम रेखा में रहें। इस समय भी छाती आदि पर वस्त्र न हों, या बहुत हल्का और ढीला वस्त्र हो तो अच्छा है। कटी से ऊपर के अंगों पर अवरोध नहीं होना चाहिए।

प्राणायाम के अनेक प्रकार हैं। किन्तु साधारण विधि यह है कि प्रथम श्वास को एक दम बल से बाहर निकाल देना चाहिए और बाहर ही रोके रहना चाहिए। जब बाहर रोकना असम्भव हो जाय, तब इस को शनैः शनैः खूब बलपूर्वक ही अन्दर खींचना चाहिए और यथाशक्ति भीतर रोकना चाहिए। सांस को बाहर निकालते समय छातीको यथासम्भव पीठकी ओर दबाना और सांस अन्दर खींचते समय छातीको आगेको बढाना चाहिए। इस क्रिया को यथावकाश पुनः पुनः करना चाहिए। एक समय पर दस बारह बार तो करना ही चाहिए। इस प्राणायाम से वायु फेफड़ों के समस्त छिद्रों में जाता रहता है और वे सदैव जीवन भर अपना कार्य निर्विघ्न करते रहते हैं। प्राणायाम से शरीर का ताप बढ़ जाता है। शीत-काल में शरीर को शीत के प्रभाव से बचाने में यह बहुत सहायक होता है। यह आलस्य और मन की चंचलता को रोकता है।

अधः-शौच

शरीर-पोषण के लिए जो आहार किया जाता है, आमाशय में उसका पहिले विलोडन और पाचन होकर पतला रस बनता है। तत्पश्चात् वह पाकाशय में चला जाता है। पाकाशय एक पतली और बहुत लम्बी नली है। इसे क्षुद्रान्त्र (छोटी आंत या अन्धी आंत) भी कहते हैं। यह आठ दस गज़ लम्बी नली कई

वृत्तों (लपेटों) में लिपटी हुई उदर में थोडे से स्थान में पडी रहती है। इसके भीतरी तल वा कला (तह) पर बहुत सी छोटी छोटी दाने जैसी गिल्टियां होती हैं। इन गिल्टियों में रस को चूसने की शक्ति होती है। वे आहार-रस में से सब तत्व या सार चूस लेती हैं और उस को रुधिर में मिला देती हैं। आहार-रस के सार से युक्त रुधिर सब शरीर में पहुंच कर पोषण का काम करता है। आहार-रस का जो अंश असार अथवा पाकाशय के चूसने के अयोग्य होता है, वह वहां से बडी आंत में चला जाता है। बडी आंत को वस्ति भी कहते हैं। इसकी लम्बाई चार पांच फीट होती है और इसकी गोलाई का व्यास लगभग डेढ़ दो इंच होता है। इस में को होता हुआ वह असार (बाकस) अंश मलाशय में पहुंचता है और गुदा के मार्ग से शरीर में से निकल जाता है। इसी मल को विष्ठा (पाखाना) कहते हैं। शरीर की स्वस्थ अवस्था में यह मल (विष्ठा) आंत में तीन चार घन्टे से अधिक देर नहीं ठहरता। बाहर निकलने के समय तक वह लेही से कुछ गाढा हो जाता है। यदि यह मल यहां अधिक काल रुका पड़ा रहे तो उसका अंश पुनः रुधिर में मिलने लगता है क्योंकि बड़ी आँतों में भी चूसने की शक्ति होती है। इसका प्रमाण यह है कि उसमें दुग्ध पहुँचा कर शरीर का पोषण किया जा सकता है। विष्ठा का अंश जब रुधिर में मिल कर शरीर में पहुँचता है तो यह बहुधा बहुत से विकारों वा रोगों का कारण

होता है। इससे शरीर में सड़न, उफान दाह उत्पन्न होते हैं, मन और शरीर सुस्त रहने लगते हैं, मन किसी काम पर नहीं जमता, शिर में दर्द होने लगता है, भूख बन्द हो जाती है, पाचन बिगड़ जाता है और निद्रा कम आने लगती है। यहां मल अधिक काल तक रुका रह कर और उसका कुछ अंश चूसा जाकर अधिक गाढ़ा और उत्तरोत्तर कड़ा हो जाता है। उसके सुद्दे बन जाते हैं जिनके गुदा से निकलने में पीड़ा होती है। यही कोष्ठबद्ध (क़ब्ज़) कहलाता है। जब अधिक दिनों तक यह दशा रहती है तो कड़े विष्ठा और सुद्दों को निकालते निकालते गुदा की नाड़ियां निर्बल हो जाती हैं। वहां सूजन हो जाती है और मस्से बन जाते हैं या कोई रग फट जाती है, जिससे विष्ठा के साथ रुधिर भी आने लगता है। यही अर्श (बवासीर) रोग कहलाता है। रुधिर में इस मलके जो अंश मिल गए हैं वे नाना रोग उत्पन्न करते हैं।

अधःशौच वा खुल कर दस्त आने की क्रिया अत्यन्त आवश्यक है। इसको स्वाभाविक रूप से होने देना चाहिये। जब जब मल निकलने के योग्य होता है तब तब आंतें उसे निकालना चाहती हैं। यदि शरीर स्वस्थ होता है तो यह क्रिया नित्य स्वयं होती रहती है। किन्तु यहां भी मनुष्य अपनी सभ्यता के अभिमान में प्रकृति के नियम का निरादर करता है। अधःशौच की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति को नियन्त्रित किया जाता है। इससे बड़ा अनिष्ट होता है।

कितने ही लोगों ने इसको रोक रोक कर दिन रात में एक बार ही मल त्यागने की बान डाल ली है और वे अपनी इस आदत का बड़ा अभिमान करते हैं। एक कहावत चल पड़ी है, "एक बार जाय योगी, दो बार जाय भोगी, तीन बार जाय रोगी।" किन्तु इसका तात्पर्य समझा नहीं जाता। योगी जन अल्पाहारी और एकाहारी (अर्थात दिन रात में एक बार ही भोजन करने वाले) होते हैं, अतः उनको दिन रात में एक बार ही शौच होता है। साधारण जन सामान्यतया दो बार भोजन करते हैं। इनको शौच भी दो बार होता है। किन्तु बहुत से लोग तीन बार वा इससे भी अधिक बार और आवश्यकता से अधिक भोजन करते हैं, उनको शौच भी कई बार होना चाहिए। यही लोग रोगी हो सकते हैं। ऐसे ही मनुष्य अपने आहार को नियमित न करके शरीर के अधःशौच की इस स्वाभाविक चेष्टा का नियमन करते हैं। वे मुख तो हर समय चलाते रहते हैं किन्तु मल के निकलने को रोकते हैं। इस अवस्था में रोग न हो तो आश्चर्य ही है।

अतः ध्यान रखना चाहिए कि बालकपन से ही इस स्वाभाविक प्रवृत्ति को रोकने या नियन्त्रण करने का उद्योग न किया जाय।

आजकल लोगों को कोष्ठबद्ध (क़ब्ज़) बहुत रहता है। जिनको यह रोग स्पष्ट प्रतीत नहीं होता वस्तुतः उनको भी वह

होता है। प्रतिदिन नियमित शौच होते रहने से यह समझ लिया जाता है कि कोष्ठबद्ध (क़ब्ज़) नहीं है। मिथ्या आहार-विहार के कारण जब बड़ी आँत में मल रुकने लगता है तो उसका निकलना एक दम बन्द नहीं हो जाता है, शौच होता रहता है, किन्तु आँत की आभ्यन्तरिक कला (झिल्ली) पर रुके हुऐ मल का कुछ भाग लिपटने लगता है। शनैः शनैः यही अवस्था रहने पर दीवार पर लेवों (लेवड़ों) के समान मल की मोटी और कड़ी तह जमती और बनती रहती है, जिस से मल निकलने का मार्ग संकीर्ण (नेड़ा) होता जाता है और इस नलिका-रूपी आँत में केंचुवे की भाँति सिकुड़ और खुलकर मल फेंकने की शक्ति क्षीण होने लगती है। इस जमे हुए मल की तह में वहाँ कृमि (कीड़े) उत्पन्न होकर रहने लगते हैं, और कभी २ इस नालिकामय आँत की भीतरी भित्ति को खा डालते हैं, जिससे वहाँ सूजन और व्रण हो जाते हैं, बड़ा कष्ट होता है और मृत्यु हो जाती है।

प्रायः सब रोग आँत में मल के रुकने से ही होते हैं। अतः तनिक सन्देह पर भी इसका प्रतिकार करना चाहिये। डाक्टर वैद्य आदि कोष्ठबद्ध (क़ब्ज़) को दूर करने के लिए रेचक औषधियां देते हैं, जो प्रायः उग्र और तीव्र होती हैं। इस प्रकार की कई औषधियां विषैली भी होती हैं। वैद्यक में प्रयुक्त **नाराच**

और **अभयादि मोदक** आदि के योग, जिनके मुख्य घटक जमालघोटा और उसकी जड़ होते हैं, इसका उदाहरण हैं। डाक्टरों का पारे वा रसकपूर के योग से बना हुआ कैलोमल (Calomel pill) भी इसका दिग्दर्शन है। ये योग विरेचन भले ही कर देवें किन्तु अन्य प्रकार से शरीर पर अपना अनिष्ट कुप्रभाव डाले बिना नहीं रहते। उनसे मलाशयकी पर्याप्त शुद्धि भी नहीं होती है। इसके लिए सब से उत्तम साधन मलाशय वा वस्तिगह्वर का परिक्षालन वा धो डालना है। आयुर्वेद-शास्त्र में इस क्रिया को 'वस्तिकर्म' कहते हैं। किंतु मैं उसके लिए यहां पाश्चात्य प्राकृतिक चिकित्सकों के अनुसरण में इस क्रिया के अर्थ के पूर्ण द्योतक Flushing of the Colon **'अन्त्रप्रक्षालन'** या केवल **'प्रक्षालन'** का प्रयोग करूँगा।

अंत्रप्रक्षालन के लिए एक बना बनाया यंत्र एनिमा सिरिंज (Enema Syringe वस्तियंत्र) डाक्टरी औषधविक्रेताओं के यहाँ २ या २॥ रुपये में बिकता है। यह एक टिन का जलपात्र होता है। इसकी पेंदी में एक टूँटी होती है। इस टूँटी में एक चार हाथ लंबी रबर की नली सटी रहती है। इस रबर की नली के दूसरे सिरे पर घुमा कर यथेच्छ खुलने और बन्द होने वाले काष्ठ के एक पेंच से युक्त काठ की ही एक गावदुम तीन चार इंच लंबी एक अन्य नली लगी रहती है। इसको नेत्र (Nozzle) कहते हैं।

इस यंत्र को डाक्टर लोग रोगियों के कठोर कोष्ठबद्ध में मल-शोधन कराने के लिए काम में लाते हैं और उसको एनिमा क्रिया (Enema) कहते हैं।

किन्तु एनिमा में वे पानी थोड़ा देते हैं, जो वस्ति (आंत) के कुछ निचले भाग में ही पहुँच पाता है और पूरी आंत को नहीं धोता। पूरी आँत को धोने के लिए पौन गैलन (३॥ सेर) से एक गैलन (५ सेर) तक पानी वस्तिगह्वर में पहुँचना चाहिए। जो वस्तियंत्र अँग्रेज़ी औषधविक्रेताओं के यहाँ मिलते हैं वे पाव या आधे गैलन पानी के होते हैं, जो अंत्रप्रक्षालन को अपर्याप्त हैं। इसलिए उसी नमूने का किसी टिन आदि धातु का जलपात्र अपना अलग बनवा लेना चाहिए जिसमें एक गैलन (५ सेर) पानी आ सके। इसमें आठ सम भाग करके उनका ज्ञापक चिन्ह भी लगवा लेना चाहिए। एक गैलन पानी पाँच सेर के लगभग (ठीक ३८४ तोले) होता है। इसके चतुर्थांश को कार्ट और अष्टमांश को पाइन्ट कहते हैं। रबर की नली और उपरिवर्णित अगला नेत्र नामक काठ का यंत्र वहाँ से ही मोल ले लेना चाहिए। एक दूसरे प्रकार का नेत्र (Nozzle) योनि धोने का होता है, वह भी ले रखना चाहिए।

इस प्रकार के वस्तियंत्र के अतिरिक्त और भी कई प्रकार के आँत धोने के यंत्र आते हैं, किन्तु उपरिवर्णित प्रकार का वस्ति-यंत्र ही सुविधाजनक है।

आँत धोने के लिए उष्ण (गरम) जल का प्रयोग करना चाहिए, किन्तु वह सह्य (जितना सहा जा सके) और ग्रीष्म ऋतु में कदुष्ण (कुछ गरम) होना चाहिए। इस में एक चम्मच साधारण लवण घोल देना चाहिए।

यदि कठोर कोष्ठबद्ध हो वा सुद्दे पड़ गए हों तो इस जल में एक छटांक शुद्ध शीरा वा कुछ गिलिसरीन या अरंडी का तेल मिला देना चाहिए।

यूं तो जब आवश्यकता पड़े वा जब सुविधा हो तब ही अंत्रप्रक्षालन किया जा सकता है, किन्तु सोते उठ कर साधारण अधःशौच के पश्चात् ही इसका प्रयोग उत्तम है। कोई इसे सोने के समय भी उपयुक्त बतलाते हैं। जब अंत्रप्रक्षालन करना हो तब प्रथम जलपात्र में रबर की नली सटा कर और रबर की नली के अन्तभागमें नेत्र यन्त्र लगा कर और उसका घुमने वाला पेंच बन्द करके उसमें जल भर देना चाहिए। उसमें लवण आदि मिला कर तैयार कर लेना चाहिए। अब पेंच घुमा कर ज़रा सा जल निकाल कर देख लेना चाहिए कि वह ठीक भी चलता है; तब पुनः पेंच बन्द कर देना चाहिए। इस नेत्र नामक लकडी के अग्रभाग पर तनिक सा तेल वा घृत चुपड़ देना चाहिए जिससे वह गुदा में सुगमता से जा सके। जलपात्र को दीवार पर खूंटी से चार पांच फीट ऊंचा टांग देना चाहिए वा अन्य किसी प्रकार इतना ऊंचा कर देना चाहिए। खाट या भूमि पर कुछ बिछा कर

दाहिनी करवट लेट जाना चाहिए। घुटने सिकोड़ कर छाती के पास ले आने चाहिए। नितम्ब (चूतड़) जरा उभरे रहने चाहिएं। इसके लिए तकिया या और कुछ करवट के नीचे रखा जा सकता है। साधारणतया यही स्थिति प्रचलित है। किन्तु घुटनों के बल पेट छाती नीचे करके स्थित हो इस क्रिया को करना अधिक अच्छा है। अब नेत्र के अग्रभागको गुदामें पहुंचा देना चाहिए। इसका एक या डेढ इंच अन्दर चला जाना पर्याप्त है। तब इसका पेंच घुमा कर खोल देना चाहिए। पानी आंत में जाने लगेगा। यदि पानी अन्दर जाना अखरने लगे, पीड़ा हो, तो पेट के नीचे के भाग को अर्थात् नाभि से नीचे पेड़ू के स्थान में आटा मांडने के समान मुट्ठी से मसलना चाहिए, इससे पीड़ा नहीं रहेगी। यदि फिर भी पानी अन्दर जाना सह्य न हो तो पेंच बन्द कर देना चाहिए, इससे पानी रुक जायगा। तब नली को गुदा में से निकाल लेना चाहिए। जितना भी पानी भीतर गया है उसे पन्द्रह बीस मिनट या आरम्भ में जितना बन पड़े, रोकना चाहिए और उसी स्थिति में पड़े रहना चाहिए, तथा कभी कभी पेड़ू को मसलना चाहिए। जब अधिक रोकना सम्भव न रहे तब शौचा-लय वा अन्य ऐसे स्थान पर जाकर इस पानीको निकल जाने देना चाहिए। यह पानी धीरे धीरे सब निकल जायगा। इसके साथ आंत में रुका हुआ सब मल पानी में घुल कर निकल जाता है। इस समय भी पेड़ू को मसलने से पानी और मल निकलने में

सहायता मिलती है। यदि कुछ पानी आंत में रह जाय तो उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। वह फिर निकल जाता है वा वहां ही सूख कर आंत और गुर्दों को पुष्टि देता है। प्रारम्भ में पानी पूरी आंत के भरने भर को न लिया जा सके तो बार २ करते रहने से शनैः शनैः इस क्रिया का अभ्यास हो जाता है।

शौच हो जाने के अनन्तर कुछ देर (आध घण्टा भर) सीधा लेटकर आराम करना चाहिये। इस से आँत यथापूर्व स्थिति में हो जाती है। इसके ३, ४ घण्टे पश्चात् वा जब तीव्र भूख लगे तब भोजन किया जा सकता है।

मल-शोधनकी यह क्रिया अति सरल और बहुत उपयोगी है। जहां औषधों ने दीर्घकाल के प्रयोग से भी प्रभाव नहीं किया, वहां इसने तत्काल मल निकाल कर रोगीको पीड़ा-मुक्त किया है। अंत्रप्रक्षालन की इस क्रिया से शरीर को कभी कोई हानि पहुँचने की कोई सम्भावना नहीं है। यदि स्वस्थ दशा में भी यदा कदा इस रीति से इस क्रिया का प्रयोग होता रहे तो कभी कोष्ठबद्ध नहीं हो सकता और शरीर निरोग रहता है।

यह नहीं समझना चाहिए कि इसकी बान पड़ जाती है। क्या हम अपने जीवन को रखने के लिए नित्य खाते पीते, नहाते धोते, सोते नहीं हैं ? यदि इन सब कार्यों, बातों को बान आदत पड़ जाना नहीं मानते तो अन्त्रप्रक्षालनको ही बान पड़ना क्यों कहा जाय? जैसे घरों और नगर की गन्दी नालियाँ

नित्य नियमसे साफ़ की जानी आवश्यक हैं वैसे ही शरीर की इस गन्दी नाली का भी प्रक्षालन आवश्यक ही है। यदि हमारा आहार व्यवहार सर्वथा स्वाभाविक और युक्ति-युक्त होता तो इस प्रकार के अंत्रप्रक्षालन की आवश्यकता न होती।

शरीर की सीधी स्थिति

चलने, बैठने, कार्य करने में शरीर की स्थिति सीधी रखनी चाहिए। इसका अभ्यास बालकों को आरंभ से ही कराना चाहिए। शरीर को सीधा न रखने का अभ्यास स्वास्थ्य को बिगाड़ देता है। चलने में सारा शरीर सीधा रहना चाहिए। शिर और गर्दन टेढ़े न होने पावें, छाती ज़रा आगे उभरी रहे। बैठने में भी शिर ग्रीवा और छाती को सीधा रखना चाहिए। कोई कार्य करते हुए, या पढ़ते लिखते हुए, छाती को झुका कर नीचे होकर बैठना हानिकर है। इस से फुफ्फुसों (फेफड़ों) पर दबाव पड़ता है और उस दशा में वे श्वास द्वारा पर्याप्त वायु नहीं ले सकते।

छाती को झुका कर कभी न बैठना चाहिए और इस प्रकार कार्य करना उत्तम है कि पढ़ने की पुस्तक, लिखने के पत्र, या अन्य कार्य-संपादन-सामग्री, औज़ार आदि ऊँची किसी चौकी, मेज़ या डेस्क पर रख लिये जायं जिससे झुकना ही न पड़े। छाती को झुकाये रहने से मेरु-दंड वा पृष्ठ-वंश की हड्डी के मोहरों में झुकाव और विकार आ जाता है और उससे मस्तिष्क के रोग होने की भी सम्भावना रहती है।

विश्राम और निद्रा

जो कार्य नित्य करना है उसे प्रायः नियमित रूप से करना उचित है। यह बात ठीक नहीं कि कई दिन तो खाली पड़े रहे और एक दिन उस कार्य पर इतना परिश्रम किया कि शरीर थक गया। ऐसा करने से शरीर पर अहित प्रभाव पड़ता है और फिर मन उस कार्य के करने से घबराने लगता है। किसी कार्य में एक दम इतना परिश्रम नहीं करना चाहिये कि शरीर और मन व्याकुल हो उठे। धीरे धीरे किसी कार्य या श्रम का अभ्यास करना चाहिये और उसे नियमित रूप से करते रहना चाहिये। तब कोई भी कार्य हो उसके करते रहने से शरीर स्वस्थ और मन प्रसन्न रहता है, कभी ऊबता नहीं।

शरीर कैसा ही बलवान हो वह निरन्तर परिश्रम नहीं कर सकता, अतः जब इसे कार्य करते करते श्रान्ति प्रतीत होने लगे तब कुछ विश्राम लेना भी आवश्यक है। शरीर को पूर्ण विश्राम (आराम) सोकर मिलता है। निद्रा में शरीर सर्वथा निश्चेष्ट हो जाता है। कार्य करते करते शक्ति का जो ह्रास हो गया था वह पुनः संचित हो जाता है। इसी लिये जब कोई सो कर जगता है तो उसका मन प्रसन्न और उत्साहयुक्त होता है और शरीरमें पुनः स्फूर्ति आ जाती है। किन्तु सोने की मर्यादा भी होनी चाहिये। युवावस्था में छह सात घंटा सोना पर्याप्त है। बालकों को सोने के लिये अधिक समय चाहिये और वृद्धों की निद्रा कम हो जाती

है। सोने के लिये रात्रि ही समुचित और उत्तम समय है। और रात्रि में भी दूसरा और तीसरा पहर श्रेष्ठ है। दूसरे प्रहर की एक घंटे की निद्रा तीसरे पहर के दो घंटों की बराबर विश्रामदायक (आराम देने वाली) है। अतः रात को प्रायः नौ वा दस बजे सो जाना चाहिये और तीन, चार वा पांच बजे अवश्य जग जाना चाहिये। इस के उपरान्त सोते रहने से शरीर में आलस्य आता है। यह उन देशों वा उस समय के लिये है कि जहां और जब रात दिन में बड़ा अन्तर नहीं होता। भारतवर्ष में जाड़ों में दिन १० घंटे का और रात १४ घंटे की होती है तथा गरमियों में यह क्रम विपरीत हो जाता है। इस लिये बहुत से लोगों को जाड़ों में अपना दिन का शेष कार्य रात में करना पड़ता है और गरमियों में दिन इतना बड़ा हो जाता है कि उस में भी कुछ लोगों को आराम करने की आवश्यकता अनुभव होती है। अतः केवल गरमियों के दो तीन मासों में एक दो घंटा मध्याह्न में सो लेने में कोई हानि नहीं है। किन्तु अन्य ऋतुओं में दिन में नहीं सोना चाहिये। उससे लाभ नहीं होता, हानि होती है और आलस्य बढ़ता है। सोते समय मनका निश्चिन्त और निर्भय होना आवश्यक है, अन्यथा निद्रा नहीं आवेगी वा भंग होती रहेगी और सोने का लाभ प्राप्त नहीं होगा।

सोने के लिये स्थान खुले वायु में होना चाहिये। यदि मकान में सोना हो तो द्वार और खिड़कियां खुली रहें, जिस से वायु

का पर्याप्त संचार हो सके। सोते समय नथुनों (नासिका के छिद्रों) को किसी ऋतु में कभी नहीं ढकना चाहिये। सोने में शरीर को अधिक वायु की मांग होती है, इसी लिये जागते की अपेक्षा सोते हुए श्वास अधिक लम्बा चला करता है। सोने में ओढने और बिछाने के अतिरिक्त शरीर पर कोई वस्त्र नहीं पहनना चाहिये, केवल एक लंगोट या छोटी धोती या एक हलका और बहुत ढीला गरदन से घुटनों तक का कुरता पहना जा सकता है। बिछाने और ओढने के वस्त्र भी जितने हलके बरतने का अभ्यास बना लिया जाय उतना ही स्वास्थ्य के लिये अच्छा है। पेट के बल लेटकर सोना ठीक नहीं है। इससे पेट और छाती आदि अंगों पर दबाव पड़ता है। पीठ के बल ही सोना चाहिये। कभी कभी यथेच्छ करवटें भी बदलते रहना चाहिये। हाथ शरीर के दोनों ओर बराबर में रखने चाहियें। सोते हुए हाथों को छाती पर रखना उचित नहीं है।

वस्त्र-धारण

मनुष्य शीत और उष्णता के निवारणार्थ तथा सभ्यता और सौन्दर्य के विचार से वस्त्र पहनते हैं। वस्त्रों का सम्बन्ध भी स्वास्थ्य से है। वस्त्र आवश्यकता से अधिक, बहुत तंग और कसे हुए नहीं पहनने चाहिएं। शरीर की स्वस्थता उसके ताप के औचित्य पर निर्भर है। किसी पिंड के ताप का यह स्वभाव है कि

वह अपने चारों ओर के वातावरण के अपने से शीतलतर होने पर उस पिंड में से बाहर निकलकर उस शीतल वातावरण की ओर जाने लगता है। मनुष्य के शरीर की भी यही अवस्था होती है। शरीर की बाह्य त्वचा में जो असंख्य सूक्ष्म छिद्र हैं उनमें से सदा अलक्षित रूपेण जल रिसता रहता है जो स्वेद वा पसीना कहलाता है और तुरन्त भाफ बन कर वायुमंडल में लुप्त हो जाता है। इसी कारण ग्रीष्म ऋतु के अतिरिक्त साधारण अवस्था में हम उसे नहीं देख सकते। अत्युष्णता, बहुपरिश्रम वा ज्वरादि के कारण इन छिद्रों से वह जल वा स्वेद अधिक मात्रा में निकलता है और शीघ्र भाफ नहीं बन पाता और हम को नेत्रों से दिखलाई देता है। इस जल के भाप बनने में भी शरीर का कुछ न कुछ ताप व्यय हो जाता है। त्वचा के छिद्रों से जो यह पसीना निकलता रहता है उसमें रुधिर का मल होता है। अतः इस का निकलता रहना अति आवश्यक है। यदि यह तत्काल भाप बन कर वायु में न मिल जाय और शरीर पर रुका रहे तो शरीर को ठंड लगने लगती है, इसलिए वस्त्र इतना और इस प्रकार का पहनना चाहिए कि वायु का शरीर तक पहुंचना सर्वथा बन्द न हो जाय। किन्तु वायु के जाने में कुछ रोक भी होनी चाहिए। वस्त्र को शरीर और वायुमंडल के बीच में परदे का काम देना चाहिए। शरीर का ताप उतनी शीघ्रता से वा उतनी मात्रा में नहीं निकलना चाहिए, वस्त्र उसके निकलने में कुछ बाधक रहना चाहिए। वस्त्र में यह

गुण भी होना चाहिए कि वह शरीर के उस स्वेद-द्रव वा पसीने को जो त्वचा से निकलता रहता है और वस्त्र पहनने के कारण कम वायु पहुंचने से वह उतनी शीघ्रता से भाप नहीं बन पाता, शरीर पर इकट्ठा न होने दे, किन्तु वस्त्र के तन्तु उसे अपने में खींच लें। यदि वह त्वचा पर रहेगा तो शरीरको ठंड लग जायगी। वस्त्र के तन्तुओं में सोखा हुआ वह द्रव वस्त्र से बाहर भाप बन कर वायु में मिल जायगा। इस तात्पर्य के लिये ऊनका वा रुएं-दार वस्त्र ठीक होता है। वह पसीने को तुरन्त सोख लेता है। मेरी सम्मति में शुद्ध खद्दर की बनियान या बंडी ही इस कार्य के लिए उपयुक्त है। ऊपर चाहे कोई वस्त्र हो किन्तु नीचे के वस्त्र के विषय में सावधानी बरतनी चाहिए। जब ऋतु का सम-रूप हो तब तो कोई हानि नहीं होती। शीत-ऋतु में पसीना आता ही बहुत कम है। ग्रीष्म में उसके आने से शरीर को ठंड लगने से सुख ही होता है। किन्तु ऋतु-परिवर्तन के समय, जब शीत कभी अधिक और कभी एक दम कम हो जाता है, बड़ा भय रहता है। ऐसे समय में ही शरीर पर पसीना रुक जाने से ठंड लग कर प्रतिश्याय (नज़ला ज़ुकाम), कास (खांसी) या फुफ्फुस-प्रदाह (निमोनिया) हो जाता है। खद्दर की बंडी या बनियान जो नीचे पहनी जाय उसे प्रति दिन धोते रहना चाहिए। शरीर पर अन्य वस्त्र बहुत अधिक नहीं पहनने चाहियें। अधिक वस्त्र पहनने से शरीर को उनकी ऐसी बान पड़ जाती है कि फिर उनके बिना

निर्वाह नहीं होता और उन की न्यूनता में शीत लगने लगता है।

मनुष्य ने सभ्य बनने के अभिमान से वस्त्रों के प्रयोग में अति की है। शिर से पैर तक कोई भाग खुला रखना असभ्यता समझा जाता है। मनुष्य की यह अति भी उसको रोगों का आयतन (घर) बनाने में सहायक हुई है। स्वास्थ्य के लिये वायु, प्रकाश और ताप (धूप) आवश्यक हैं। जो मनुष्य असभ्यावस्था में नंगे रहते हैं वे जीवन भर स्वस्थ रहते हैं। उनके पास प्रतिश्याय (नज़ला) आदि रोग फटकते तक नहीं। जिन लोगों को अपने पद के नियम वा शिष्टाचार-वश प्रचलित विशेष वस्त्र-भूषा (वरदी) या प्रकार विशेष के प्रचुर या भारी वस्त्र पहनने पड़ते हैं उनको भी चाहिए कि अपने कार्य से अवकाश पाने पर एक दो घंटा ऐसा निकालें जिसमें वे वस्त्र उतार कर अपने नंगे अंगों को वायु, प्रकाश और ताप लेने का अवसर दे सकें।

निवास-स्थान वा गृह

जो अवस्था वस्त्र धारण करने की है वही गृहों (मकानों) में रहने की है। जो लोग प्रायः गृहों में रह कर ही सब काम काज करते हैं, जिन को खुले मैदान में रहने का अवसर कम मिलता है, उनका स्वास्थ्य भी यथेच्छ नहीं रह सकता। इसके विपरीत जो जातियां जंगलों में रहती हैं वे बहुत कम रोगी होती हैं। शहरों के बड़े २ ऊंचे किन्तु तंग भवनों में रहने वालों की अपेक्षा, ग्रामों में

साधारण झोपडियों में रहने वाले अधिक स्वस्थ रहते हैं। किसान और पशु चराने वाले, जिन्हें अपना दिन भर का कार्य खुले मैदान में करना पड़ता है, बहुत कम रोगी होते हैं।

वस्त्रों की भांति ऋतुओं के कठोर प्रभाव से बचने तथा जंगली हिंसक जन्तुओं, चोर डाकू और शत्रुओं आदि से आत्म-रक्षा के लिये सभ्य मनुष्यों को गृहों की आवश्यकता होती है। तथापि उनके प्रयोग की कोई सीमा होनी चाहिए। प्रत्येक समय उनमें ही बन्द नहीं रहना चाहिये। जहां तक हो सके काम काज भी खुली वायु में किये जायं। वृक्षों का आश्रय स्वास्थ्यप्रद है। निवास-गृह तंग नहीं होने चाहियें। वे खुले होने चाहियें। वायु आने के लिये उनमें पर्याप्त द्वार और वातायन (खिड़कियां) भी होनी चाहियें। अन्दर और बाहर आँगन भी आवश्यकतानुसार होना चाहिये। गृहों के समीप वृक्ष हों वा गृह वृक्षों, बागीचों में हों तो और भी अच्छा है। मनुष्यों को स्वस्थ रहने के लिये अपना अधिक समय खुले मैदान या वृक्षों में बिताना चाहिए।

विचार और व्यवहार-शुद्धि

शरीर का मन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों में से किसी एक के अस्वस्थ होने का प्रभाव दूसरे पर बिना पड़े नहीं रह सकता। रोगी मनुष्य का मन शान्त नहीं रह सकता, उसका स्वभाव चिड़-चिड़ा हो जाता है, वह तनिक तनिक सी बात पर क्लेश और रोष करता है। इसी प्रकार मन में विकार होने से शरीर के

स्वास्थ्य में भी अन्तर आ जाता है। जब किसी को बहुत क्रोध वा शोक होता है तो शरीर तत्क्षण प्रभावित हो जाता है। रुधिर विक्षुब्ध हो जाता और अस्वस्थता का कारण बन जाता है। कई मनुष्यों की तो मन के अत्यन्त क्षोभ से मृत्यु तक हो जाती है। इसके विपरीत स्वस्थ मनुष्य का मन भी बिगड़ने का अवसर कम रहता है। मानसिक शक्ति ही मनुष्य को स्वस्थ वा रोगी बना देती है। किसी स्वस्थ मनुष्य के मन पर यह बात बिठला दीजिये कि वह रोगी है, वह साक्षात रोगी हो जायगा। किसी रोगी को यह विश्वास दिला दो कि उसका रोग कम हो रहा है, वह स्वस्थता अनुभव करने लगेगा। छूमन्तर, गन्डे, तावीज़ आदि में कोई रोगनाशक शक्ति नहीं है। जिन रोगियों को इनमें विश्वास होता है उनका रोग मन के विश्वास के कारण ही कम होने लगता है। इससे सिद्ध होता है कि मन के स्वस्थ रखने का यत्न भी अवश्य करना चाहिए।

संसार में जितना उपद्रव मचा है वह सब मानसिक विकारों के ही कारण है। यदि मनुष्य समाज के मन निर्विकार और शुद्ध रहें तो सर्वत्र शान्ति ही शान्ति विराजमान रहे।

मन में विकार, स्वार्थ की अति मात्रा और दूसरों के अनिष्ट चिन्तन से आता है। सब मतों ने मनुष्य के कल्याण के लिये यही मुख्य उपदेश किया है कि सब प्राणियों को अपना सा समझो, किसी को मत सताओ।

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।
उंच बरखुद न पसंदी बरदीगरां मपसन्द ।

इस फ़ारसी की सर्वश्रेष्ठ कहावत का भी यही आशय है। जो मनुष्य सदैव इस उपदेश को अपने मन में दृढ रखता है उसके मन में कुविचार उत्पन्न नहीं हो सकते। उससे पापाचरण भी नहीं हो सकते और उसका मन सदा सन्तुष्ट और स्वस्थ रहता है।

मन बड़ा चंचल है । उसको वश में करना सुगम नहीं है । तथापि अभ्यास और वैराग्यसे उसको वशमें किया जा सकता है । श्रीमद्भगवद्गीता का वचन है:—

अभ्यासेन च कौन्तेय वैराग्येन च गृह्यते।

अपनी कमाई और अपने सदुद्योग से जो पदार्थ मिल जाय, उसी में सन्तुष्ट रहना चाहिए। दूसरोंके पास नाना भोगके साधन देखकर, अन्याय से उन्हें प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। विपत्ति में धैर्य रखना चाहिए। सुख, दुःख, हानि, लाभ और जय पराजय इन सब द्वन्द्वावस्थाओं में मन को एक जैसा रखने का अभ्यास करना चाहिए। इससे मन स्वस्थ रहेगा और शरीर के नीरोग रहने में सहायक होगा।

जननेन्द्रिय क्रिया और वीर्य-रक्षा

परमात्मा ने अन्य जीव जन्तुओं की भाँति मनुष्यों को भी सन्तानोत्पादक इन्द्रियाँ दी हैं। इन इंद्रियों के दुरुपयोग से स्वास्थ्य को बड़ा धक्का लगता है। अतः स्वास्थ्य के अभिलाषी जनों को इस विषय में भी पूरा सावधान रहना चाहिए। भोजन करने से जिह्वा को स्वाद के आनन्द का अनुभव होता है, परन्तु भोजन का प्रयोजन (उद्देश्य) शरीर को पोषण करना मात्र है। यदि इस उद्देश्य को भूल कर जिह्वा का स्वाद मात्र भोजन का उद्देश्य समझा जाएगा तो शरीर के पोषण के लिए आहार की आवश्यकता और भूख न होने पर भी केवल स्वाद का सुख लेने के लिए कोई पदार्थ खाया जायेगा और अवश्य अजीर्ण होगा।

इसी भाँति सन्तानोत्पादन-क्रिया (मैथुन) से नर और नारी को एक प्रकार के अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है। मनुष्य को इस इंद्रिय सुख की ऐसी बुरी लत पड़ जाती है कि सन्तानोत्पत्ति का अवसर वा उद्देश्य हो वा न हो, वह इंद्रिय-सुख के लिए ही मैथुन में प्रवृत्त होने लगता है। मैथुन करने से शरीर का सार (वीर्य) निकलता है, वीर्य के निकलने से शरीर निर्बल होता है और अतएव जन्तुओं के लिये मैथुन-क्रिया बल और जीवन का अत्यन्त ह्रास करने वाली है। मधुमक्षिका आदि कई अतिक्षुद्र जन्तुओं के नरों का मैथुनके अनन्तर तत्काल ही देहान्त हो जाता है, और कई खरगोश आदि क्षुद्र प्राणियों के नर मैथुन के पश्चात्

मूर्छित होकर गिर पड़ते हैं। इसलिये मनुष्यों को भी अति मैथुन से अति हानि पहुंचे बिना नहीं रह सकती और उससे नाना रोग उत्पन्न होते हैं। मनुष्य के अतिरिक्त संसार के सब जीव सन्तानोत्पादक इन्द्रियों का कभी दुरुपयोग करते नहीं देखे गए। सांड बिजार आदि उसी अवस्था में मैथुन करते हैं जब गर्भस्थिति के अनुकूल दशा होती है। इस अवस्था में न होने पर वे स्त्री (मादा) के पास रहते हुए भी कभी मैथुन में प्रवृत्त नहीं होते। मनुष्य श्रेष्ठ प्राणी होकर भी, इस विषय में भी प्रकृति के नियम की अवहेलना करता है, जिससे वह अपने को ही दुर्बल और रोगी नहीं बनाता, किन्तु भावी सन्तति को भी निर्बल रोगी बना देता है। स्वास्थ्य-विषयक पुस्तकों में इस आवश्यक अङ्ग का यथोचित वर्णन न करके भारी त्रुटि छोड़ दी जाती है। यहां यह उल्लेख अनुचित न होगा कि गर्भ धारण करने की स्त्रियों की एक विशेष अवस्था होती है, वह उनका रजस्वला होना है। रजस्वला होने के दिन वाली रात से चार रात्रियों में रज का स्राव रहता है। इनमें गर्भस्थिति नहीं हो सकती तथा इन चार रात्रियों में संयोग करना नर और नारी दोनों को रुग्ण करना है। पाँचवीं रात से पन्द्रहवीं रात तक गर्भस्थिति हो सकती है, अतः केवल इन्हीं रात्रियों में से किसीमें यथावसर सन्तानार्थी नर नारियोंको संयुक्त होना चाहिए। वह भी उसी समय जब दोनों सब प्रकार स्वस्थ और सन्तान उत्पन्न करने के योग्य हों। गर्भस्थिति हो जाने पर स्त्री का रज-

स्वला होना बन्द हो जाता है। गर्भस्थिति के अनन्तर कम से कम एक वर्ष तक उस स्त्री से सँभोग नहीं करना चाहिए, अन्यथा स्त्री पुरुष दोनों के तथा सन्तान के लिए भी अनिष्ट परिणाम होगा। इस रीति के अतिरिक्त अन्य समय मैथुन में प्रवृत्त होना प्रकृति के नियम का उल्लंघन करना है।

हमारे शास्त्रों में ब्रह्मचर्य की बड़ी महिमा वर्णन की गई है। यहां तक कहा गया है कि "ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत" ब्रह्मचर्य के बल से विद्वानों ने मृत्यु को वश में कर रक्खा था। वस्तुतः आर्य जाति बड़ी संयमी थी, किन्तु अब भोगलोलुप अन्य जातियों के संपर्क और संयोग से भारत में आर्यों का वह संयम इतिहास की एक बात रह गया है।

ब्रह्मचर्य केवल जननेन्द्रिय के संयम से ही संपन्न नहीं हो जाता, किन्तु जीवनको सर्व प्रकार से ईश्वरीय नियमों के अनुसार बिताने से होता है। "ब्रह्म" ईश्वर प्रकृति तथा वेद का वाचक है। इनके नियमों पर चलना, आचरण करना ब्रह्मचर्य है। जो मनुष्य सर्वथा इन के नियमों का पालन करेगा वह रोगी नहीं होगा, मृत्यु उस पर अकाल में आक्रमण नहीं कर सकेगी। उसकी पूर्ण आयु होगी। यही मृत्युञ्जय है। इस प्रकार व्यवहार करते हुए गृहस्थी भी ब्रह्मचारी माने गए हैं।

सन्तान उत्पन्न करना धर्म है। सन्तान उत्पन्न न की जाय तो जाति का मूलोच्छेद हो जाय। किन्तु देश,काल और परिस्थितिका

विचार करना भी आवश्यक है। आवश्यकता से अधिक सन्तान उत्पन्न करना भी उचित नहीं है। अधिक सन्तान होनेसे वैयक्तिक पारिवारिक तथा देश की दशा समुचित नहीं रह सकती। किन्तु इस अभिप्राय की पूर्ति के लिए ब्रह्मचर्य का अपमान करके पाश्चात्यों के तुल्य सन्तान-निग्रह के अन्य अस्वाभाविक साधनों का अवलम्बन नहीं करना चाहिए। वह बड़ा भयानक है। इस सभ्यता के अभिमानियों ने ऐसी थैलियां आदि बनाई हैं जिन्हें जननेन्द्रिय पर पहन कर मैथुन करने से वीर्य उसी में रह जाता है, रजसे संयोग नहीं हो सकता, गर्भस्थिति तो नहीं होती मैथुन का आनन्द मिल जाता है। परन्तु वीर्य के उस अपव्यय से जो क्षति शरीर को पहुँचती है उसका ये इन्द्रिय-सुख-लोलुप मनुष्य नामधारी पशु कुछ ध्यान नहीं करते। वस्तुतः वीर्य की रक्षा में ही शरीर का हित और आनन्द है।

कई युवक या युवतियों को कुसंग के कारण उपस्थ में हाथ से वा अन्य प्रकार मन्थन करने की बुरी लत पड़ जाती है। यह स्वास्थ्यके लिये यम-स्वरूप है। जिनको यह रोग लग जाता है उन की जनन-शक्ति नष्ट हो जाती है। पुरुष नपुंसक हो जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों के शरीर की सब क्रियायें बिगड़ जाती हैं। उनकी भूख बन्द और पाचन-शक्ति नष्ट हो जाती है। उनको हर समय आलस्य, लज्जा और भय घेरे रहता है। बालकों को आरम्भ से ही इस हानिकर कुटेव के विरुद्ध ज्ञान करा देना चाहिए।

युवावस्था में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए व्यायाम अत्यावश्यक है। दिन के अतिरिक्त रात्रिमें भी सोने से पूर्व व्यायामके पश्चात शीतल जल से स्नान करके वा हाथ, पांव, मुख और नीचे की इन्द्रियों को धोकर सोने से वीर्य की रक्षा होती है, नींद गहरी आती है और मन कुविचारों की ओर नहीं जा पाता। व्यायाम द्वारा वीर्य की रक्षा करने से मनुष्य ऊर्ध्वरेता हो जाता है। वीर्य नीचे को प्रवृत्त न होकर ऊपर समस्त देह में व्याप्त हो जाता है, जिससे स्वास्थ्य, बल, सौन्दर्य और तेज प्राप्त होता है और आयु दीर्घ होती है।

रोगों की चिकित्सा

प्राकृतिक आहार व्यवहार रखने से मनुष्य का स्वास्थ्य स्थिर रहता है और उसको पूर्ण आयु प्राप्त होती है। मिथ्या और अप्राकृतिक आहार व्यवहार से किसी न किसी समय — शीघ्र वा विलम्ब से — कोई न कोई रोग उत्पन्न हो जाता है, जिससे आयु घटती है।

रोगों के बाह्य स्वरूप भले ही भिन्न भिन्न हों किन्तु उन सब का मूल कारण एक ही है। अप्राकृतिक आहार-व्यवहारसे अर्थात प्रकृति के नियमों के विरुद्ध खान-पान और चाल-चलन से शरीर में इतना मल उत्पन्न होने लगता है कि जितना शरीर बाहर निकाल नहीं सकता। वह शरीर में संग्रह होने लगता है। शरीर में मल के एकत्रित हो जाने से सड़न और उफान होने लगता है। ईश्वर

ने शरीर को रोगों के शान्त करने की स्वाभाविक शक्ति प्रदान की है। जब मल का संग्रह हो जाता है तब इस शारीरिक शक्ति और उस मल-संग्रह में एक प्रकार का युद्ध होता रहता है। यदि शरीर की यह शक्ति क्षीण नहीं हुई है तो उस संघर्ष में उसका विजय होता है। ज्वर आना, कहीं सूजन होना, फोडे फुन्सी निकलना वा दस्त लग पड़ना इत्यादि शरीर के मल निकालने के विविध रूप हैं। अतः इनको कभी दबाना वा रोकना नहीं चाहिए।

रोगों की दो अवस्थायें होती हैं। एक तो वह जिसमें शरीर असाधारण (अस्वाभाविक) मल को निकालने की स्वयं चेष्टा करता है और जो अस्कमात किसी रोग के रूप में प्रकट होती है। यह **उग्र अवस्था** है। दूसरी वह अवस्था है जिसमें शरीर सब असाधारण संचित मल को निकालने में असमर्थ हो जाता है या औषध आदि उपचारों के द्वारा शरीर का मल निकालने की चेष्टा रूप उस रोग को दबा दिया जाता है। तब वह मल शरीर में ही पड़ा रह कर कालान्तर में नाना प्रकार के अन्यान्य विकार प्रकट करता रहता है और प्रतिश्याय (नज़ला ज़ुकाम), आमवात (गठिया), अर्धांग फालिज आदि का कारण होता है। यह **जीर्ण अवस्था** कहलाती है। ये नाम शरीरकी रोग-प्रतिकार-शक्ति के उग्र वा जीर्ण होने के सूचक हैं।

पुराना चिकित्सा-शास्त्र रोगों को दबाना उचित समझता है। ये रोग वस्तुतः रोग नहीं हैं। प्रत्युत संचित मलों को निकालने के

लिये शरीर के शुभ उद्योग हैं। अतः पुराना चिकित्सा-शास्त्र रोगों को औषध आदि के द्वारा दबा कर रोगों के मूल कारण का प्रतिकार नहीं करता। प्राकृतिक चिकित्सा रोगों को दबाने के बदले उनके मूलकारण मल को शरीर से निकाल कर उसे पुनः स्वस्थ दशा में लाना चाहती है। पुराने चिकित्सा-शास्त्र में प्रायः विषैली औषधें शरीर में पहुंचाई जाती हैं, जो उस समय चाहे बाहर प्रकट रोगों को दबा दें किन्तु भविष्य के लिये शरीर में वे अपना अनिष्ट प्रभाव छोड़ जाती हैं। प्राकृतिक चिकित्सा में शुद्ध वायु, जल, धूप आदि से ही रोग अच्छे किये जाते हैं, जिन मे कभी किसी हानि की सम्भावना नहीं होती है।

पुराने चिकित्सा-विज्ञान के अनुसार पहिले रोग का निदान करना पड़ता है, जो उसके मत से बहुत कठिन है और उस में भूल की सम्भावना रहती है। कई डाक्टरों और वैद्यों का एक ही रोगी के विषय में मत-भेद प्रायः देखा गया है। यदि निदान में भूल होने के कारण विपरीत औषध दे दी जाय तो वह रोग को बढा देती है और कभी देहान्त भी कर देती है। किन्तु प्राकृतिक चिकित्सा में यह झन्झट नहीं है। इसमें सब रोगों का मूलकारण एक ही माना जाता है और इसलिये रोगों के प्रतिकार में भी भेद नहीं पडता तथा हानि पहुंचने की भी कभी सम्भावना नहीं रहती।

प्राकृतिक चिकित्सा के अनेक आचार्य हैं और उन्होंने अपने २ अनुभव के अनुसार चिकित्सा के पृथक २ साधन बतलाये हैं। प्रत्येक आचार्य अपने निर्दिष्ट साधन की बहुत प्रशँसा करता है। इसमें सन्देह नहीं कि सभी साधन उत्तम और फलप्रद हैं। डॉ० मैकफेडन उपवास को, डॉ० विल्सन अन्त्र-प्रक्षालन वा वस्तिकर्म (आंत धोने) को, और डॉ० जेम्स रेमगड डेवरू फल-शाकाहार को सर्वश्रेष्ठ साधन मानते हैं। डॉ० लिगड-लार भी इन उपर्युक्त साधनों (उपचारों) का विधान करते हैं, किन्तु अपने आर्द्र-वस्त्र-वेष्टन (वेट पैक) की बहुत प्रशंसा करते हैं। प्रसिद्ध जल-चिकित्सक डॉ० लुई कोहनी के जलोपचार (स्नान) तो इस देश में प्रसिद्ध ही हैं। अमेरिका और योरुप में चिकित्सा के कितने ही अन्य साधन भी प्रचलित हैं। रगों, पुट्ठों, मांस-पेशियों के मर्दन से भी चिकित्सा की जाती है। मानसिक शक्ति मात्र से भी नैरोग्य प्राप्त कराया जाता है। यहां मैं अपने अनुभूत साधनों को ही लिखूंगा। उनमें से किसी भी साधन को प्रयोग में लाने से रोग से छुटकारा हो सकता है। अपनी रुचि और साहस के अनुसार किसी भी साधन से काम लेना चाहिए।

प्राकृतिक चिकित्सा में आत्मसंयम मूल तत्व है, इस बातको पहले ही दृढ़ता से निश्चय कर लेना चाहिये। अन्यथा इससे वास्तविक और स्थायी लाभ नहीं होगा। स्वास्थ्य-रक्षा के लिये

जो नियम पहले आवश्यक बताए जा चुके हैं, रोगों की दशा में उन सबका पूर्ण रूपेण (आदर्श रीत्या) पालन करना अनिवार्य है। खान पान रहन सहन सब व्यवहार जब सुधर जायगा तब ही प्राकृतिक चिकित्सा से अभीष्ट-सिद्धि होगी। इस विषय में संस्कृत का निम्न लिखित पद्य पूरा चरितार्थ होता है:—

पथ्ये सति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणाम् ।
पथ्येऽसति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणाम् ॥

अर्थात् पथ्य (हितकारी खान-पान) के होने पर रोगी को औषधों के सेवन से क्या लाभ है और पथ्य के न होने पर रोगी को औषधों के सेवन से क्या लाभ है ?

लूई कोहनी के जलोपचारों (स्नानों) का वर्णन यहां नहीं किया जायगा, क्योंकि उस विषय की पुस्तकें हिन्दी में विद्यमान हैं। पाठक उन्हें पढ़ सकते हैं। इसके अतिरिक्त वे स्नान रोग-निवारणार्थ समय भी बहुत लेते हैं। उनको करते करते रोगी उकता जाते हैं। और कई उनको बीच में ही छोड़ बैठते हैं। उनमें प्रति दिन समय भी बहुत लग जाता है। उतना समय रोगी प्रायः नहीं लगा सकते।

अनुभव से उपवास सर्वश्रेष्ठ और शीघ्र फलप्रद पाया गया है। यह बहुत सरल है। इसको करते हुये अन्य सब कार्यों में बाधा नहीं पड़ती, तथा घर वा यात्रा में कहीं भी यह किया जा सकता है। इसके स्वाभाविक होने में सन्देह नहीं किया जा सकता, एक भी युक्ति इसके प्रतिकूल नहीं है।

रोगी होने पर खाने की इच्छा आप ही नहीं रहती। इसका कारण यह है कि उस समय शरीर अपनी सम्पूर्ण शक्ति मलको निकालने में लगाता है। यदि भोजन को पचाने और आत्मसात करने में भी उसकी शक्ति लगे तो अधिक और असाधारण मलको निकालने के लिए जितने बल की आवश्यकता है वह नहीं लगाया जा सकेगा। आप किसी पशु, किसी जीव जन्तु को देखिये, रोगी होने पर वह खाना सर्वथा छोड़ देता है, उनका रोगी होने का यही लक्षण होता है, निरोग होकर ही वे फिर खाना प्रारम्भ करते हैं। रोग होने पर मनुष्य की भी यही अवस्था होती है। जहां कुछ भी ऐसा अधिक मल शरीर में हुआ जो रोग का कारण होता है कि सच्ची भूख बन्द होजाती है। शरीर खाना नहीं माँगता किन्तु हम भोजन की मिथ्या लालसा वा झूठी भूख के वशवर्ती बनकर, शरीर की आवश्यकता के विरुद्ध खाए चले जाते हैं। यदि प्रत्येक ऐसे समय, जब सच्ची भूख न हो, खाना न खाया जाय तो इतना संयम ही रोगी होने से बहुत कुछ बचा सकता है। किन्तु यहां ऐसे साधारण भूख न होने के समय न खाने की बात तो एक ओर रही, बड़े से बड़े रोग में भी लोग खाए बिना नहीं रहते हैं। उनको नियत समय पर भोजन का अभ्यास घेरे रहता है। जिन रोगियों को भूख नहीं लगती वा रुचि नहीं होती, जिनका शरीर ज्वर वा अन्य किसी साधन से अपने को स्वस्थ करने की चेष्टा में लगा रहता

है, उनको भी डॉक्टर या वैद्य खाना देना आवश्यक समझते हैं। वे कहते हैं कि रोगी निर्बल हो जायगा। अरुचि के कारण वे दलिया, दूध आदि अधिक स्वादु भोजन तो अवश्य ही देते हैं। यह प्रकृति की अवहेलना नहीं तो और क्या है ?

हमारे देश में व्रत और उपवास की प्रथा अति प्राचीन काल से प्रचलित है, और इसका बहुत माहात्म्य वर्णन किया गया है। किन्तु अब हम उसका मुख्य प्रयोजन स्वास्थ्य न समझ कर पुण्य और पारलौकिक शुभ ही मान रहे हैं। इस लिए अब उपवासका ढंग भी सर्वथा विपरीत हो गया है। अब तो व्रत के दिन अन्य दिनों से भी अधिक और नाना प्रकार के स्वादु और गरिष्ठ पदार्थ खाये जाते हैं, जो स्वास्थ्य को सुधारने के बदले बिगाड़ते अधिक हैं।

यदि मनुष्य स्वस्थ दशा में प्रति सप्ताह एक दिन उपवास नियम से करते रहें तो साधारणतया उनके रोगी होने की सम्भावना बहुत कम हो जायगी।

रोग की दशा में उपवास शीघ्र आरम्भ करना चाहिए और शरीर के स्वस्थ होने तक बराबर रखना चाहिए। यदि बीच में उपवास तोड़ा जायगा तो स्वास्थ्य पुनः शीघ्र बिगड़ जायगा। रोग की उग्र अवस्था में उपवास से शीघ्र ही रोग नष्ट हो जाता है। तीन, पाँच वा सात दिन का उपवास ही पर्याप्त हो जाता है, क्योंकि इस समय शरीर की रोगनाशक, मलनिष्कासक शक्ति

प्रबल होती है। किन्तु रोग की जीर्ण-अवस्था में उपवास लम्बा करना पड़ता है, क्योंकि तब शरीर की अपनी रोगनाशक शक्ति क्षीण हुई होती है, इस दशा में कई कई सप्ताह का उपवास करना होता है। उपवास के दीर्घ होने से कोई भय नहीं करना चाहिए। डा० मैकफैडन ने अपने रोगियों को नव्वे दिन तक का उपवास कराया है।

उपवास उसी समय तक होता है जब तक शरीर में मल वा रोग है। मल निकल चुकने और नीरोग हो जाने पर भी आहार न किया जाय तो वह उपवास नहीं, किन्तु भूख से मरना है। क्योंकि निर्मल शरीर को आहार न मिलने पर, उपवास में मल को भस्म करने वाली जाठराग्नि, शरीर के आवश्यक अंगों को ही खाना आरम्भ कर देती है। स्वस्थ दशा में एक दिन से अधिक उपवास कदापि नहीं करना चाहिए।

उपवास काल में किसी प्रकार का कोई आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए। प्यास लगने पर शुद्ध जल पीते रहना चाहिए। जल ताज़ा पीना चाहिए। शीत अधिक होने पर दिन में एक बार प्रातःकाल उष्ण जल भी पिया जा सकता है, किन्तु प्रायः ताज़ा जल ही पीना चाहिए। जल में थोड़ा सा नीबू वा नारंगी (सन्तरे) का रस मिला कर भी पी सकते हैं। यह मल के निकालने में शरीर की सहायता करता है। रस की मात्रा जल में उसके चतुर्थांश से कम रहनी चाहिए, अन्यथा वह आहार का काम देगी

और शरीर का बल उसके पचाने में लग जायगा, और इससे भूख भी जाग पड़ेगी। उपवास आरम्भ करने पर भूख पहिले या दूसरे दिन ही कुछ लगती है। इसके पश्चात भोजन की इच्छा स्वयमेव नहीं होगी। किन्तु उपवास के मध्य में कोई किसी प्रकार का अल्पाहार भी किया जाय तो भूख जाग पड़ती है और फिर उपवास रखना दूभर पड़ जाता है। उपवास में कोई औषध आदि भी नहीं खानी चाहिए।

मल निकालने में सजल उपवास की अपेक्षा निर्जल उपवास अधिक तीव्र होता है, किन्तु निर्जल उपवास चार पांच दिन से अधिक नहीं करना चाहिए, और वह भी प्रतिश्याय (नज़ला ज़ुकाम) आदि वा जलोदर (पेट में पानी होने) की दशामें करना चाहिए। साधारणतः यही नियम है कि प्यास लगने पर जल पीना चाहिए।

उपवास में रोगी को अपनी शक्ति के अनुसार व्यायाम बराबर करते रहना चाहिए। प्रातः और सायम् दो दो मील वा अधिक भ्रमण करना चाहिए। जो इतना भी न कर सकते हों उनको शरीर-मर्दन कराना चाहिए। व्यायाम से शरीर का बल बना रहता है। उपवास में व्यायाम न करने से शरीर निर्बल होने लगता है और उसके निर्बल होने से मल निकालने और रोग का सामना करने का कार्य भी मन्द पड़ जाता है। डॉ० मैकफेडन के रोगी चालीस और पचास दिन के उपवास में निरन्तर दस दस बारह बारह मील प्रति दिन चलते रहे हैं। मैं स्वयम् तथा

जिनकी मैंने चिकित्सा की है वे दो वा तीन सप्ताह के उपवास में भी प्रति दिन दोनों समय चार चार मील का भ्रमण करते रहे हैं। यह नहीं समझना चाहिए कि उपवास में शक्ति नहीं रहती, व्यायाम न हो सकेगा। उपवास में बैठ कर उठने पर भी कभी कभी अपने को निर्बलता का अनुभव हुआ करता है। सिर में चक्कर सा आता है वा आंखों के सामने अन्धेरा सा छा जाता है। किन्तु वह क्षणमात्र रहता है। इस अवस्था से घबराना नहीं चाहिए। और साहस-पूर्वक शरीर को सम्भाल कर चलने वा अन्य चेष्टा में प्रवृत्त करना चाहिए। इससे शरीर का बल तत्काल जाग उठता है और इससे मन और शरीर में उत्साह और स्फूर्ति का संचार हो जाता है। उपवास में व्यायाम या भ्रमण से पूर्व प्रातः सायं वा अन्य समय तबियत गिरी सी प्रतीत हुआ करती है, किन्तु व्यायाम या भ्रमण आरम्भ करते ही प्रकृति स्वस्थ हो जाती है। जिस समय भी शरीर में निर्बलता का अनुभव हो उसी समय दस बीस पग चल लेना चाहिए। इससे बल आता हुआ प्रतीत होने लगता है।

उपवास में आहार का बोझ न पड़ने के कारण स्वयमेव आंतों में से मल निकलना बन्द हो जाता है। किन्तु शरीर का मल ऊपर से विष्ठा बन कर आंतों में आता ही रहता है। इसका निक-लना अत्यावश्यक है, अन्यथा वह आंतों में पड़ा रह कर रक्त-वाहिनी नाड़ियों द्वारा पुनः रुधिर में प्रवेश पाने लगता है, जिससे

उपवास का कुछ भी लाभ नहीं होता। इस मल के निकालने के लिए दूसरे वा तीसरे दिन अन्त्रप्रक्षालन अवश्य करते रहना चाहिए। उपर्युक्त रीति से आंतों को अवश्य धोते रहना चाहिये। उपवास तोड़ने के पश्चात जब शरीर को पूरा भोजन मिलने लगता है तब आंत अपने आप ही नियमपूर्वक मल को बाहर निकालने लगती हैं। यदि पूरा भोजन ग्रहण करने पर भी अपने आप सुगमता से शौच न होने लगे और शौच के लिये बैठने पर किनचने वा जोर लगाने की ज़रूरत पड़े वा कष्ट होता हो तो मल-त्याग के लिये बल नहीं लगाना चाहिए, ऐसा करने से गुदा की नाड़ियों को क्षति पहुंचती है। ऐसे समय वस्ति-यन्त्र से थोड़ा पानी, आध सेर वा तीन पाव, लेना चाहिए। इससे सुगमतासे शौच हो जाता और एक वा दो दिन इस प्रकार थोड़ा जल लेने से शौच सुगमता से आप से नियत समय पर होने लगता है।

रोग की जीर्णावस्था में उत्तम यह है कि उपवास आरंभ करने से पूर्व फल और बिना पके शाक का ही आहार आरंभ कर दिया जाय और कोई अन्य पदार्थ न खाया जाय। इससे मल शरीर से स्वयमेव निकलने लगता है और शरीर की रोग-नाशक शक्ति प्रबल हो जाती है। संभव है उपवास के बिना ही शनैः शनैः सब मल निकल कर शरीर स्वस्थ हो जाय। किन्तु प्रायः शरीर के जीर्ण रोग से युद्ध करते हुए उस रोग का उभार हुआ करता है, अतिसार (दस्त) आने लगते हैं, ज्वर हो जाता है,

फोड़े फुंसी निकल आते हैं वा कभी कभी कंठसे रुधिर आने लगता है, इत्यादि नाना रूप से दोष का उभार होता है। इससे घबराना नहीं चाहिए। इसको शुभ समझना चाहिए। प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा दबे हुए रोगों का उभार होता ही है, जो इस बात का सूचक है कि अब रोग नष्ट होने वाला है। इस उभार की दशा में कष्ट बहुत कम और कुछ काल के लिए ही होता है। जिस समय उभार हो तब तुरन्त उपवास आरंभ कर देना चाहिए। इस दशा में उपवास शीघ्र फलदायक होता है, लंबे उपवास की आवश्यकता नहीं पड़ती है, क्योंकि शरीर की रोगनाशक शक्ति प्रबल हो उठती है और अपने प्रबल सामर्थ्य से वह दबे हुए रोगों पर आक्रमण कर देती है। प्रथम फल-शाकाहार के बिना ही जीर्ण रोग की चिकित्सा के लिए जो उपवास किया जाता है उसमें भी रोग का उभार होता है, किन्तु वह कुछ दिन के उपवास के पश्चात् होता है। इसी लिए उपवास लंबा हो जाता है, किन्तु उभार के पश्चात् शीघ्र रोग नष्ट हो जाता है।

उपवास-काल में शरीर मल को प्रत्येक द्वार से निकालता रहता है। विष्ठा और मूत्र में पुराने मल की विद्यमानता उनकी परीक्षा से प्रमाणित हो सकती है। मुख में दुर्गन्ध आने लगती है, जिह्वा पर पापड़ी सी जम जाती है। किन्तु शरीर के निर्मल और स्वस्थ हो जाने पर यह लक्षण दूर हो जाते हैं,

जिह्वा स्वच्छ हो जाती और सच्ची भूख, जो अब तक नहीं लगती थी, लगने लगती है; यही समय उपवास की समाप्ति का है। जिस समय जिह्वा स्वच्छ हो जाय और सच्ची भूख लगने लगे, उसी समय उपवास तोड़ना चाहिए।

कुछ रोगी ऐसे होते हैं जो उपवास से बहुत घबराते हैं वा दीर्घकाल से अस्वस्थ रहने के कारण जिनकी जीवन शक्ति बहुत क्षीण हो गई होती है। ऐसे लोगों को इस विधि से उपवास करना सुगम और हितकर होगा कि प्रथम वे एक समय का उपवास करें। अगले दिन दोनों समय भोजन करें। तीसरे दिन पूरे एक दिन का उपवास करें। पुनः दो दिन भोजन करें और दो दिन का उपवास करके चार दिन भोजन करें। फिर तीन दिन का उपवास और छः दिन भोजन करें। पुनः पाँच दिन का उपवास और दस दिन भोजन करें। तदनुसार एक सप्ताह का उपवास और दो सप्ताह भोजन। इस विधि से उपवास को यथा आवश्यक बढ़ा सकते हैं। इससे शरीर की सहिष्णुता और जीवन-शक्ति धीरे धीरे बढ़ती रहती है। जब तक रोगी में जीवन-शक्ति वा रोग-प्रतिकार-शक्ति का सर्वथा अभाव न हो गया हो तब तक उपवास से कभी रोगी की मृत्यु का भय नहीं है। उक्त शक्ति के नाश हो जाने पर कोई चिकित्सा भी रोगी को नहीं बचा सकती है। उपवास के मध्य में भोजन कर लेने से भी अनिष्ट हो सकता है। यदि कोई रोगी उपवास को पूरा न कर सके और बीच में

ही घबरा कर तोड़ना चाहे तो उसको बहुत सावधानी से उपवास तोड़ना चाहिए।

उपवास चाहे अधूरा हो या पूर्ण हो गया हो उसके तोड़ने में बहुत सावधानी की आवश्यकता है। उपवास का फल उसके पश्चात् भोजन की संभाल पर ही निर्भर होता है। उपवास तोड़ने पर वेग से भूख लगती है। किन्तु शरीर की पाचन शक्ति अभी तक प्रसुप्त होती है, वह शनैः शनैः सचेत और प्रबल होती जाती है। यदि एक साथ सहसा भारी या अधिक भोजन किया जाय तो पीड़ा बढ़ जाती है, उसका संभालना कठिन हो जाता है और उपवास के स्थायी लाभ में भी कमी पड़ जाती है।

उपवास जितना अधिक लंबा होता है उतनी ही उसके तोड़ने में अधिक सावधानी करनी पड़ती है। पहिले यह निश्चय कर लेना चाहिए कि उपवास के पीछे जब पूरा भोजन ग्रहण करने लगेंगे तो वह क्या होगा। उसी के अनुसार क्रमशः उपवास के अनन्तर भोजन आरंभ करना चाहिए।

तीन दिन के उपवास के अनन्तर प्रथम दिन किसी रसीले फल वा दुग्ध का आहार करना चाहिए। दूसरे दिन से कोई सामान्य लघु भोजन किया जा सकता है। पांच दिन के उपवास के पश्चात् प्रथम दिन एक समय सन्तरे, अनार वा अंगूर का रस पिया जाय, दूसरे समय इनमें से ही कोई फल खाया जाय। अगले दिन से अन्य फल जैसे सेब, अमरूद, बेर और रसीले ताजे

मौसम के शाक खाए जायं वा बकरीका कच्चा दुग्ध पिया जाय। दूसरे दिन दुग्ध पिया हो तो तीसरे दिन दुग्ध में उबला हुआ गेहूं का दलिया भी खाया जा सकता है। चौथे दिन कोई साधारण लघु भोजन खाया जा सकता है। एक सप्ताह से दो सप्ताह तक के उपवास में पहले दिन सन्तरे, अनार या अंगूर का रस दोनों समय एक एक छटाँक से आध आध पाव तक पिया जाय। अगले दिन इन फलों का गूदा दोनों समय चार चार छटांक तक खाया जाय। तीसरे दिन उनके साथ अन्य फल भी खाए जा सकते हैं, वा पाव भर से आध सेर तक दुग्ध पिया जा सकता है। चौथे दिन से फल और शाक वा दुग्ध में उबला हुआ गेहूं का दलिया खाया जा सकता है। पांचवें दिन दलिए के स्थान में चावल वा मूंग की दाल की खिचड़ी खा सकते हैं, इसके पश्चात रोटी भी खा सकते हैं।

दो सप्ताह से अधिक के उपवास में क्रम तो यही रखना चाहिए, किन्तु वही वही भोजन दो दो दिन करना चाहिए। पहिले दिन मात्रा उससे आधी और अगले दिन उतनी जितनी कि ऊपर लिखी गई है, होनी चाहिए। भोजन की मात्रा धीरे २ बढ़ानी चाहिए। उपवास के पश्चात अध्यशन (अति-भोजन) बड़ी हानि करता है।

उपवास के पश्चात् यदि सदैव फलों, मेवों और शाक मात्रों का भोजन करना अभीष्ट न हो तो कुछ दिनों तक तो वह अवश्य

ही करना चाहिए। उसके पश्चात जैसी इच्छा हो वैसा कर सकते हैं। ऊपर जो दुग्ध वा दलिया आदि लिखे गए हैं, वे उन्हीं के लिये हैं जो इन्हें खाना ही चाहें वा उसके पश्चात रोटी आदि खाने के इच्छुक हैं। जो फल और शाक पर रहना चाहें उनको ये पदार्थ नहीं खाने चाहिएं। इन सब खाद्य पदार्थों का स्वास्थ्य पर जो प्रभाव पड़ता है पहिले बतलाया जा चुका है।

उपवास से शरीर को एक बार निर्मल और स्वस्थ करके, यदि आगे उसको पुनः रोगी होने से बचाना है तो, अपने आहार व्यवहार को शुद्ध रखना चाहिए। अन्यथा रोग का आक्रमण पुनः पुनः होने की सम्भावना है और उपवास की आवश्यकता भी पुनः पुनः पड़ेगी। रोग के बारम्बार होने से जीवन शक्ति और आयु का ह्रास होता है।

जो रोगी उपवास नहीं करना चाहते वा भोजन में भी केवल फल और शाक पर सन्तोष नहीं कर सकते, उनको कुछ दिनों तक अन्त्रप्रक्षालन (आंत का धोना) मात्र भी लाभ दे सकता है किन्तु इसका परिणाम परिमित ही होगा। भोजन करते रहने से शरीर की सम्पूर्ण शक्ति रोग को निकालने में नहीं लग सकती, अतः उतनी शीघ्र और उतनी पूर्ण और दीर्घ-कालिक स्वस्थता भी कैसे प्राप्त हो सकती है ! यद्यपि डा० विल्सन अपनी "न्यू हाइजीन, ड्रगलेस रेमेडी आफ आल डिज़ीज़िज़" में अन्त्रप्रक्षालन (आंत धोने) मात्र से सब रोगों का निवारण मानते हैं, वे न

तो उपवास की आवश्यकता समझते हैं और न फल शाकाहारको प्रधानता देते हैं, तथापि विचार करने पर उनकी सम्मति सर्वांश में ग्राह्य नहीं जंचती। एक ओर भोजन और सब प्रकारका भोजन ग्रहण करते रहें और उसके द्वारा मल को देह में प्रविष्ट भी करते रहें और दूसरी ओर उसके निकालने का प्रयत्न करें, तो इससे कितना हित हो सकता है! जो पहिली बहुत दिनों की मल-राशि शरीर में संचित पड़ी है और जिससे रोग की उत्पत्ति हुई है, वह कैसे शीघ्र निकल सकती है! तथापि अन्त्रप्रक्षालन से कुछ हित अवश्य होगा।

कुछ दिनों तक नित्य के अंत्रप्रक्षालन (आँत धोने)से घबराना नहीं चाहिए। यह किसी प्रकार भी निर्बलता नहीं करता है। जब तक आवश्यकता हो, वह किया जा सकता है। इसको बन्द करने पर बिना इसके आप शौच होने में कोई आपत्ति नहीं होती है। यह तो घर को बुहारने या उसकी नाली धोने के तुल्य ही है। बुहारने धोने से कभी बल क्षीण नहीं होता, किन्तु स्वच्छता होती है। हाँ, किसी घर की स्वच्छता बहुत दिनों तक न करके उस घर में सुख नहीं मिल सकता। यही दशा शरीर की भी है। इसलिए जब भी शरीर में मल का सन्देह हो उसको तुरन्त निकालने का यत्न करना चाहिए।

जो बार बार की सफ़ाई से बचना चाहें उनको घर में कम से कम कूड़ा और गंदा पानी रहे, ऐसा उद्योग करना चाहिए।

शरीर में कूड़ा वा गन्दगी भोजन में से आती है। **भोजन जितना स्वाभाविक, सरल, रूखा, सूखा, बिना बनाव चुनाव के होगा और आवश्यकता से अधिक न खाया जायेगा, उतना ही शरीर में मल कम बनेगा।** साधारण मल को निकालते रहने के लिए शरीर में पर्याप्त सामर्थ्य है।

प्रसिद्ध प्राकृतिक चिकित्सक डा० जिन्डलार का **आर्द्र-वस्त्र-वेष्टन** (वेट पैक) मूल चिकित्सा नहीं है, वह गौण है। वे भी यही लिखते हैं कि प्रधान चिकित्सा यह है कि रोग की उग्रावस्था में तुरन्त उपवास किया जाए, और जीर्णावस्था में कुछ काल तक फल शाकाहार कर के जीर्ण रोग का उभार होते ही उपवास किया जाए। यदि शरीर में कहीं वाहर या अन्दर किसी प्रकार की सूजन वा अन्य स्थानिक पीड़ा हो, या ज्वर की तीव्रता हो, तो **आर्द्र-वस्त्र-वेष्टन** प्रधान चिकित्सा में सहायक होता है।

साधारण ज्वर को किसी उपाय विशेष से उतारने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। उसको यथासमय आप ही उतरने देना चाहिए। वह तो केवल शरीर का तापमाव ज्वर के रूप में निकलता है। उसको रोकने से आगे अनिष्ट होता है। किन्तु जब ज्वर का ताप बहुत अधिक हो और रोगी उसके कारण विकल हो या उसका जीवन संकट में हो तो उसको केवल इतना कम करना चाहिए जिससे भय की संभावना न रहे। जब ज्वर १०३ मात्रा से अधिक हो तभी वेट-पैक करना उचित है।

इस उद्देश्य के लिए समस्त शरीर का वा केवल धड़, (छाती, पेट और कमर)का आर्द्र-वेष्टन किया जा सकता है।

पूरे शरीर के वेष्टन की विधि यह है कि किसी खाट वा चौंकी आदि पर जहाँ रोगी लेटा हो, बिस्तर के ऊपर पहिले दो या अधिक ऊनी कम्बल बिछाने चाहिएँ। ऊपर के कम्बल पर एक रुई के कपड़ेकी (खद्दर की) चादर पानी में भिगो कर और निचोड़ कर फैला देनी चाहिए। ध्यान रहे कि कम्बल इस गीली चादर के किनारों से एक एक फुट सब ओर बाहर निकलता रहे। रोगी को इस गीली चादर पर नग्न कर के इस प्रकार लेटा दो कि ऊपर के सिरे पर गर्दन हो जाए। तब इस चादर में सब शरीर लपेट देना चाहिए। भुजाओं, टांगों और धड़ के मध्य पर इस चादर के सिरे चढ़ा देने चाहिएं। यदि भुजाओं, धड़ और टाँगों पर गीले टुकड़े अलग अलग लपेटे जाँय तो और सुगमता होगी। तत्पश्चात् कम्बलों को एक एक कर के उसी प्रकार ऊपर लपेट देना चाहिए और उनके दाहिने बाँए सिरे एक दूसरे के ऊपर चढ़ा देने चाहिएं और गर्दन तथा टाँगों के पास के सिरे भी ऊपर को लौट देने चाहिएं। सब से ऊपर के कम्बल के सिरों को सेफटि पिन से वा और किसी प्रकार संयुक्त कर देना चाहिए। रोगी को इस वेष्टन में शरीर की प्रतिक्रिया के अनुसार अभीष्ट-सिद्धि तक डेढ़ से दो घण्टा तक रखना चाहिए। यदि वेष्टन समुचित रीतिसे हुआ है तो रोगी कुछ मिन्टोंमें ही गर्म हो जायेगा।

यदि वेष्टन से रोगी का शरीर प्रतिक्रिया न करे अर्थात् गर्म न होवे जैसे ज्वर आने से पूर्व जो जाड़ा चढ़ता है वह न रुके वा ख़ूब पसीना लाना अभीष्ट हो, तो सब से ऊपर के लपेट से अड़ा कर दोनों करवटों में और पैरों पर तप्त-जल-पूरित बोतलें वा गर्म की हुई ईंटें किसी मोटे कपड़े में लपेट कर रखनी चाहिएं। इससे जाड़ा बन्द हो जायेगा। वेष्टन हटाने पर रोगी के शरीर को ठंढे पानी में तौलिया या मोटे खद्दर के अँगोछे को भिगो कर इससे ख़ूब रगड़ कर साफ़ कर देना चाहिए और तुरन्त सुखा देना चाहिए। और हाथों से ख़ूब रगड़ देना चाहिए। रोगी के लिए पहिले से दूसरा बिस्तर दूसरी खाट पर तय्यार रखना चाहिए। इस पर रोगी को तुरन्त बदल दें और वस्त्रों से ख़ूब ढक दें, जिससे उसे शीत न लगे और यदि कुछ पसीना फिर आजाए तब उसको भी पुनः पोंछ देना चाहिए और सूखे बिस्तर पर लिटा कर आराम कराना चाहिए।

यदि रोगी बहुत निर्बल हो और उसको भीगे कपड़े की रगड़ देने के लिए अलग करने में सुगमता न हो तो यह उसी खाट पर किया जा सकता है। इसके लिए पहिले से ही वेष्टन के नीचे और बिस्तरे के ऊपर एक रबर या तैल-वस्त्र बिछा कर उस पर कोई पुराना कम्बल डाल रक्खें। वेष्टन हटा कर रोगी के ऊपर एक कम्बल डाल दें जिससे उसे शीत न लगे और तदनन्तर शीघ्रता से पहिले हाथ पैरों को, और फिर छाती, पेट और कमर

को गीले तौलिये या अंगोछे से खूब साफ करते जांय और प्रत्येक भाग को शीघ्र सुखाते जांय, उसके पश्चात रबर या तैलवस्त्र नीचे से निकाल दें और रोगी को सूखे और गर्म कम्बल से ढांप दें।

धड़ का वेष्टन भी लगभग ऐसे ही किया जाता है। खद्दर के चौड़े टुकड़े ठंडे पानी में भिगो और निचोड़ कर रोगी के धड़ पर बग़ल से जंघा पर्यन्त एक दो वा अधिक तह में और उनके ऊपर सूखे ऊनी कपड़े की एक वा अधिक तहें इस प्रकार लपेट देनी चाहिए कि गीली तह कहीं भी उघड़ी न रह जाय। ऐसे ही कंठ, भुजाओं, टांगों, कन्धों, जोड़ों वा शरीर के अन्य किसी भाग को वेष्टन किया जा सकता है। गीले और सूखे कपड़ों की तहों की संख्या, रोगी की जीवन-शक्ति, उसके ताप-मान और अभीष्ट प्रयोजन पर निर्भर हैं।

वेष्टन का अभिप्राय (१) ताप का कम करना, यदि वह बहुत अधिक हो (२) ताप बढ़ाना, यदि वह स्वस्थता के ताप से कम हो (३) शरीर के अन्दर रुधिर के जमाव को हटाना और (४) शरीर से मलों का निकालना है।

यदि अधिक ताप को घटाना है तो गीली तहें कई लपेट कर ऊपर से सूखी तह एक या दो ढीली लपेटनी चाहिएँ जिससे बिस्तर गीला न हो सके। ज्योंही वेष्टन सूख जाए त्योंही बदल देना चाहिए।

कम ताप को बढ़ाने के लिए गीली तहें कम और सूखी तहें अधिक होनी चाहिएं। वेष्टन अधिकाधिक समय आध घण्टे से दो घण्टे तक रखना चाहिए। यदि ताप न बढ़े तो उष्ण जल की बोतलें या तप्त ईंट करवटों और पैरों पर उस प्रकार रखनी चाहिएँ जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है।

रुधिर का जमाव हटाने वा मल निकालने के लिए भी गीली तहें कम और सूखी अधिक करनी चाहिएँ।

बिस्तर को गीला होने से बचाने के लिए रबर वा तैल-वस्त्र वेष्टन लगाने से पूर्व रोगी के नीचे बिछाया जा सकता है। किन्तु वेष्टन के ऊपर इनको कभी नहीं लपेटना चाहिए क्योंकि ये वेष्टन में से उष्णता के निकलने में बाधक होते हैं। वेष्टन के ऊपर का कपड़ा गर्म तो हो किन्तु उसमें से शरीर की उष्णता और मल-युक्त वायु निकलते रहने चाहिएँ।

शरीरकी स्थानिक सूजन की दशामें बड़े वेष्टनके नीचे गीली तहें उसी स्थान पर और लगा देनी चाहिएँ और इनको, सूखा और गर्म होने पर, सावधानी से, बड़े वेष्टन को न बिगाड़ते हुए, बदलते रहना चाहिए। जब समस्त शरीर का वेष्टन न करना हो, तो वह स्थानिक किया जा सकता है।

ज्वरों में, जब ताप का मान बहुत ऊँचा हो तब, गर्दन की पींठ पर भी ठंडा वेष्टन लगाना चाहिए, क्योंकि मस्तिष्क के नाडिजाल का केन्द्र इस स्थान पर है, जो शरीरके तापका संचालन

करता है। इस केन्द्र के ठंडा हो जानेसे समस्त शरीर पर ठंड का प्रभाव पड़ता है।

लोग समझते हैं कि वेष्टन अपनी ठंड से ज्वर का ताप शीघ्र कम कर देता है। किन्तु यह बात नहीं है। शरीर के प्रतिक्रिया न करने की दशा को छोड़ कर वेष्टन कुछ मिन्टों में ही गर्म हो जाता है।

वेष्टन की ठंड त्वचा के ताप को ही कुछ कम कर सकती है। वेष्टन से शरीर की त्वचा पर, वेष्टन की आर्द्रता और शरीर के ताप के मेल से, जो भाफ़ बनती है वह शरीर के अन्दर से जमे हुए रुधिर को त्वचा की ओर खींचती है, और उसके सूक्ष्म छिद्रों और प्रणालियों को ढीला और खुला कर देती है, जिस से शरीर से ताप निकलना सुगम हो जाता है।

ज्वर की अवस्था में त्वचाके छिद्र और रुधिर-वाहिनी नाड़ि-याँ सिकुड़ कर तंग और अवरुद्ध हो जाती हैं, इसलिए ताप बाहर नहीं निकल सकता, त्वचा सूखी और कड़ी हो जाती है और शरीर का आभ्यन्तर अधिक तप्त रहता है। त्वचा के ढीला होने पर पसीना आने लगता है और ज्वर उतर जाता है।

गीले वेष्टन के नीचे आर्द्र ताप अर्थात् भाफ़ त्वचा को सर्वथा स्वाभाविक रीति से ढीला कर देता है। इन सरल वेष्टनों और उनके पश्चात् ठंडे पानी के धोने से रोगी का ताप यथेष्ट अवस्था में लाया जा सकता है। ज्वर उतारने की विषैली औष-

धियों से ज्वर उतारने में शरीर की अवस्था शिथिल, हृदय की गति मन्द, श्वास प्रश्वास निर्बल और रुधिर विकृत हो जाता है, जिससे शरीर की जीवन-शक्ति क्षीण हो जाती है।

सूजन और ज्वर युक्त रोगों में सूजे हुए अंगों और अवयवों में रुधिर जम जाता है। रुधिर के जमने से वहाँ लालिमा, उभार, अधिक ताप और पीड़ा हो जाती है। जमाव बहुत हो तो पीड़ा भी बढ़ जाती है और सूजन का कार्य शरीर को अपनी स्वाभाविक गति से उतनी उत्तमता से स्वस्थ नहीं होने देता। इसलिये उन अंगों से रुधिर का स्थानिक दबाव हटाया जाना आवश्यक है, जो वेष्टनों की प्रक्रिया से सुगमता पूर्वक घटाया जा सकता है। वेष्टन रुधिर को अन्दर से बाहर की ओर खींचते हैं और इस प्रकार शरीर में कहीं भी जमाव हो, जैसा कि कई रोगों में, मस्तिष्क में, वा फेफड़ों में वा अन्य किसी आभ्यन्तर भाग में होता है, उसको ढीला कर देते हैं। पानी का यह सरल प्रयोग रुधिर के जमाव, अति ताप और कष्ट के हटाने में अद्भुत प्रभाव रखता है।

ज्वर युक्त रोगों से मृत्यु की अधिक संख्या इस कारण होती है कि शरीर में विषैला मल अधिक मात्रा में इकट्ठा हो जाता है जो जीवन के केन्द्रों और मुख्य क्रियाओं को शिथिल वा नष्ट कर देता है। इसलिये सूजन से उत्पन्न मल को यथासम्भव शीघ्र शरीर से निकालना आवश्यक होता है। वह कार्य भी वेष्टन से पूर्णतया हो जाता है। वेष्टन रुधिर को त्वचा की ओर प्रवा-

हित करके उसकी सूक्ष्म रुधिर-वाहिनी नाड़ियों को ढीला करता है, जिससे रुधिर का विषैला मल त्वचा के छिद्रों द्वारा निकल कर वेष्टन में सोखता रहता है। इसीलिये वेष्टन की गीली तह का रंग कुछ पीला या भूसला सा हो जाता है और उसमें दुर्गन्ध आने लगती है। अतः यह भी ध्यान रहे कि एक बार लगे हुए वेष्टन की गीली लगने वाली तहें, बिना उष्ण जल में साबुन से खूब धोए और धूप में सुखाए, दुबारा प्रयोग में नहीं लानी चाहिएं।

ज्वर-युक्त रोगों में कोष्ठबद्ध (क़ब्ज़) होने का कारण भी आभ्यन्तर रुधिरका जमाव और अति ताप ही होता है। वेष्टनका नाड़ियों को ठंडा और ढीला करनेका प्रभाव आँतों पर भी पड़ता है। उनका अति ताप कम हो जाता है और अधःशौच होने (दस्त आने) में बहुत सुविधा हो जाती है।

चिकित्सा के अतिरिक्त रोग की दशा में स्वास्थ्य सम्बन्धी उन सब नियमों का पूरा ध्यान रखना चाहिए जिनको पहिले लिखा जा चुका है। स्वस्थ मनुष्य की अपेक्षा रोगी को शुद्ध वायु की अधिक आवश्यकता होती है। इसलिए जिस घर में रोगी हो, उसमें वायु का पर्याप्त संचार होना चाहिए। किन्तु रोगी पर वायु का प्रवाह सीधा नहीं जाना चाहिए और यदि रोगी बहुत निर्बल हो और वायु उसे असह्य हो तो भी दिन रात में कई बार थोड़ी थोड़ी देर के लिए रोगी के घर का द्वार और वातायन (खिड़-

कियाँ) खोलते रहना चाहिए। रोगी को उसकी शक्ति के अनुसार वायु और धूप का स्नान भी उपयोगी होता है। यह स्नान भी नंगे शरीर पर ही होने चाहियें। वायुमें लेटनेसे वायुका और धूप में लेटने से धूप का स्नान हो जाता है, किन्तु वायु और धूप अधिक तीव्र और प्रचंड नहीं होनी चाहिएं। धूप-स्नान के पश्चात् जल के स्नान से वा जल में वस्त्र भिगो कर शरीर को पोंछ कर ठंडा कर देना आवश्यक है। तत्पश्चात् रोगी को कुछ व्यायाम करना चाहिए जिससे शरीर गर्म हो जाए, वा अपने वस्त्रों को पहिन वा उनमें लेट कर शरीर को गर्म कर लेना चाहिए।

इस चिकित्सा-विधि से शरीर के अन्दर से उत्पन्न होने वाले सब ही रोग नष्ट किए जा सकते हैं। उन रोगों की बात तो दूसरी है जिन में बाह्य कारण से शरीर को क्षति पहुंचती है, जैसे चोट लग कर हड्डी का मुड़ जाना, टूट जाना वा शरीर में किसी अस्त्र शस्त्र का आघात लगना, वा विषैले जीव का काटना, आग से जलना, पानी में डूबना आदि हैं। इन दशाओं में विशेष साधनों से काम लेना पड़ता है जो विज्ञ चिकित्सक और डाक्टर ही कर सकते हैं।

स्त्रियों और बालकों के रोगों में भी यह उक्त चिकित्सा पूरा फल देती है, क्योंकि इनके रोग भी प्रकृति के नियमों के विरुद्ध चलने से ही उत्पन्न होते हैं। शरीर के किसी अंग में सूजन, फुफ्फुस (फेफडों), यकृत (जिगर), प्लीहा (तिल्ली), मस्तिष्क

आदि स्थानों का बढ़ जाना, कहीं पथरी होना, स्त्रियों के रजो-विकार, बालकों के उष्मा आदि रोग तथा नेत्र, श्रवण, दांत आदि में पीड़ा, इन सब दशाओं में इस चिकित्सा से अवश्य आरोग्य प्राप्त होता है और रोगी को स्थायी स्वास्थ्य मिल जाता है जो औषध-चिकित्सा से कदापि सम्भव नहीं है।

इस चिकित्सा की विशेषता यह है कि इस में आत्मसंयम अनिवार्य है। यह मनुष्य को सृष्टि-नियम के अनुसार खान, पान, रहन सहन और व्यवहार करने का अभ्यासी बनाती है जिससे न केवल उसके शरीर, मन और आत्माका ही कल्याण है, किन्तु समाज का भी बड़ा हित है। इस चिकित्सा के परिणाम स्वरूप मनुष्य पाप और परोत्पीडन (दूसरों को कष्ट देने) वा हिंसा से बचने लगता है।

स्वयं ग्रन्थ-लेखक के प्राकृतिक चिकित्सा विषयक अनुभव

पाठकों को यह बता देना भी उपयोगी होगा कि प्राकृतिक चिकित्सा से स्वयं इस लेखक को बहुत लाभ पहुंचा है। उसका स्वास्थ्य बिगड़ चुका था और एक समय उसका जीवन ही संकट और संशय में था। तब लगातार अनेक प्रकार की औषध-चिकित्सा के होते रहने पर भी कोई सफलता न मिली और प्राकृतिक चिकित्सा से ही स्वास्थ्य लाभ हुआ तथा जीवन शेष रहा।

मेरा स्वास्थ्य युवावस्था में ही बिगड़ना शुरु होगया था। शरीर तो पुष्ट और दृढ़ था। फिर भी प्रारम्भ में कभी २ प्रतिश्याय (जुकाम) होने लगा। फिर यहाँ तक नौबत पहुँची कि नित्य ही नासिका-स्राव (नज़ला) रहने लगा। प्रति दिन प्रायः एक सेर पानी नाक से निकल जाता था। तनिक ठंड लगी और छींकें आकर नाक से पानी का स्रोत बहने लगता था। दो तीन वर्ष के पश्चात् जाड़ों में कभी कभी साँस भी उठने लगा। यूनानी और आयुर्वेदीय चिकित्सायें हुईं, किसी से स्थायी लाभ न हुआ। तब मैंने लुई कूने की जलचिकित्सा की। दो मास जलचिकित्सा कर के मुझे एक दम दस्त आने लगे। मुझको इससे बहुत पहिले अर्श (बवासीर) हो चुका था। शौच में रुधिर आया करता था। छः मास पश्चात रुधिर आना बन्द होगया था किन्तु गुदा में जो मस्से फूल गये थे, वे वैसे के वैसे ही बने रहे। उनमें कभी २ खाज आया करती थी। लुई कूने की जलचिकित्सा से दबे हुए दोष (माद्दे) के उभार से हीं मुझे दस्त आने लगे थे। मेरे बहुत निर्बल हो जाने पर एक ऐलोपैथ डाक्टर से इलाज कराया गया। उसने देखा कि गुदा में एक व्रण हो गया है। उसपर आपरेशन किया गया। मेरा यकृत (लिवर जिगर) भी विकृत बतलाया गया। दो मास में उस डाक्टर के इलाज से मुझे आराम हो गया।

लुई कूनेकी जल चिकित्सा का यह फल हुआ कि मुझे नासिका-स्राव (नज़ले) में बहुत कमी हो गई। इस समय के पश्चात् मैं

ने औषधों का प्रयोग प्रायः छोड़ ही दिया। यदा कदा जल-चिकित्सा करता रहा।

दश बारह वर्ष के पश्चात् मुझको एक बार प्रवाहिका (पेचिश) हुई, उसको आराम न हुआ। और बहुमूत्र भी हो गया। रात में प्रत्येक घंटा मूत्र-त्याग के लिए उठना पड़ता था। इसके लिए मैं ने आयुर्वेदीय औषध का प्रयोग किया किन्तु उससे स्वास्थ्य लाभ न हुआ। इन रोगों में मैं बहुत दुर्बल और कृश हो गया था। मुझको अपने जीवन का संशय होने लगा था। इसका एक कारण यह भी था कि मेरे पिता जी का देहान्त ४३ वर्ष की आयु में हुआ था और उनके पिता और पितामह की मृत्यु भी लगभग इसी आयु में हुई थी। मेरे पिता जी ने मरणासन्न अवस्था में कहा था कि हमारे कुल में कोई अभिशाप लगा है, इससे किसी की आयु पचास वर्ष की नहीं होती है। मेरी आयु इस समय ४३ वर्ष की ही थी, अतः उनका वह कथन इस रोग में मुझे अपना अन्त निकट होने की भावना करा देता था। एक मित्र की प्रेरणा से मैं ने एक सप्ताह का उपवास किया, इस से मेरे ये रोग नष्ट हो गए। उपवास के अनन्तर मैंने अपना भोजन रूखा, सूखा और सादा कर दिया। लवण, मिर्च, मसाले, घी, मिठाई बन्द कर दीं। इस आहार से मेरे शरीर को बहुत लाभ पहुँचा। किंतु मैं इस प्रकार के भोजन को पाँच मास से अधिक न चला सका।

इस समय से मुझे उपवास में श्रद्धा हो गई। जब स्वास्थ्य में गड़बड़ होती, तभी उपवास कर लेता था।

कुछ काल व्यतीत होने पर मेरे शरीर में खाज आने लगी, उसके निवृत्त्यर्थ मैंने दो सप्ताह का उपवास कर डाला। इस उपवास से मेरा ऐसा असीम हित हुआ जिसका कि मुझ को स्वप्न में भी ध्यान न था। मैं हकलाया करता था। इस उपवास के समाप्त होने के दिन मुझे एक भाषण करना पड़ा। एक घण्टे के भाषण में मुझको हकलाहट न हुई। यह देख कर सब लोग चकित हो गए। उस समय मैं भी विश्वास न करता था, किन्तु पीछे मुझे विश्वास हो गया कि यह उपवास का ही प्रभाव था।

चार पाँच वर्ष के पश्चात् मेरे एक पैर के अँगूठे के जोड़ में पीड़ा हुई। मैं समझा कि मोच आगई है। मोच के लिए बीस पच्चीस दिन मालिश हुई। आराम हो गया। दो मास पीछे वही पीड़ा पुनः हुई। इस बार बहुत कष्ट हुआ। पैर सूज गया। भूमि पर रखना कठिन होगया। इस बार मैं ने अन्य उपाय न करके उपवास ही किया। पीड़ा कम होने लगी और पाँच छः दिन में पैर सर्वथा ठीक होगया। आगे चल कर मुझे ज्ञात हुआ कि यह पीड़ा वात-रक्त (Gout निक़रिस) नामक आमवात (गठिया) का एक भेद था।

मेरे स्वास्थ्य को ठीक करने में एक और कारण ने भी सहायता दी। राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेने के कारण मुझे पकड़े जाने और कारावद्ध होने (जेल जाने) की संभावना थी। अतः मैंने अपने रहन सहन में परिवर्तन करके उसे बहुत सरल बना लिया था। उससे पूर्व मैं जाड़ों में अधिक वस्त्र पहिना करता था और रात को बन्द घर में सोया करता था। उसके बदले मैं खुले कमरे में सोने लगा और वस्त्रों में भी कमी कर दी। पहिले मैं ठंड से बचने के लिए शिर पर डुपट्टा बाँधा करता था। किन्तु अब मैं शिर को नंगा रखने लगा और जाड़ों में प्रातःकाल नंगे शिर नगर से बाहर भ्रमणार्थ जाने लगा। इस परिवर्तन ने मेरे स्वास्थ्य को बहुत ही लाभ पहुंचाया; प्रतिश्याय, नासिकास्राव (नज़ला) अब प्रायः बन्द ही होगया था।

कई वर्षों के पश्चात् मुझ को ऐसी परिस्थिति में रहना हुआ कि जाड़ों में बन्द कमरों में सोना पड़ा, जहां वायु का संचार न था। खान पान में भी सुव्यवस्था न रही। अतः मुझ पर ज्वर का आक्रमण हुआ। ज्वर उतरा तो प्रतिश्याय (नज़ले) का प्रकोप हुआ। इनके शांत करने के लिए मैंने दो तीन बार उपवास प्रारम्भ किए, किन्तु प्रत्येक बार उपवास बीच में ही अधूरा तोड़ दिया। इससे प्रतिश्याय (नज़ले) का दोष निकलता निकलता रुक गया और उस रुके हुए दोष ने मेरी श्रवण-शक्ति पर आघात किया। मैं एक दम सर्वथा बहिरा हो गया। तब मैंने पुनः इक्कीस

दिन का एक उपवास किया। इससे मेरी श्रवण-शक्ति लौट आई। मैं साधारण बात सुनने में समर्थ हो गया। किन्तु मेरी श्रवण-शक्ति पूर्णतया नहीं लौटी क्योंकि यह इक्कीस दिन का उपवास भी उसके लिए पर्याप्त सिद्ध नहीं हुआ।

इस उपवास के अनन्तर मेरे पैर के अंगूठे के जोड़ों में वही पीड़ा पुनः हुई जो कई वर्ष पहिले हो चुकी थी। अधिक कष्ट हुआ और कई दिन तक रहा तथा तीन तीन मास के अन्तर से चार बार इस पीडा का आक्रमण हुआ। मैंने एक पुस्तक में यह पढा कि वातरक्त (Gout) नामक इस रोग को न रोका जाय तो रोगी को आमवात (गठिया) होनेकी बहुत सम्भावना रहती है। इससे मुझे बहुत चिन्ता हुई। मुझे प्राकृतिक चिकित्सा की जो पुस्तकें मिल सकीं उनका मैंने अध्ययन किया। सौभाग्य से डॉ० रेमंड जेम्स डेवरू कृत और न्यूज़ीलैण्ड से प्रकाशित 'ईटिंग टु वेनिश डिज़ीज़' नामक ग्रन्थ भी देखने में आया। इसमें मैं ने पढा कि अनुचित आहार के कारण ही रोग उत्पन्न होते हैं और समुचित प्राकृतिक आहार से ही उनकी निवृत्ति-पूर्वक दीर्घायु मिलती है। अतः मैंने अपने भोजन में परिवर्तन कर दिया। अब प्रायः एक समय में फलों का आहार करता हूं और दूसरे समय स्वाभाविक रूप में कुछ शाक और कुछ रोटी खाता हूं। दाल भात आदि या पके हुए शाकों का खाना मैंने प्रायः छोड़ ही दिया है। श्वेत शर्करा (शकर, बूरा), लवण, मसाले आदि सब

मैंने त्याग दिए हैं। इस आहार के प्रभाव से तब से मुझ को कभी रोग नहीं हुआ है।

इस बीच में मैंने कई अन्य आहारों का प्रयोग करके उनका अनुभव भी किया है। मैंने रोटी न खाकर उसके स्थान पर सूखा आटा और भीगे गेहूं कई कई दिन तक खा कर देखे हैं। ये भी सुपच और स्वास्थ्यप्रद सिद्ध हुए थे। एक बार सैंतीस दिन तक केवल दुग्ध पर निर्वाह किया था। प्रति दिन कई बार करके ५ सेर दुग्ध पीता था। यह भी उपयोगी प्रमाणित हुआ था।

यह भी बता देना आवश्यक है कि मैं प्रति दिन व्यायाम भी करता रहा हूं। प्रातः सायं भ्रमण भी करता हूं और प्रत्येक मास में एक बार अन्त्रप्रक्षालन (वस्ति-कर्म) भी करता हूं।

यदि साधारण जनता, विशेषतः भारत की युवा सन्तति, मेरे इन अनुभवों से कुछ लाभ लेकर आज कलके अपने विषयासक्त और विलासमय कृत्रिम जीवनों को सुधार कर प्राकृतिक रहन-सहन स्वीकार करके प्रचलित आधि व्याधियों से बचेगी तो मैं इस क्षुद्र पुस्तिका के प्रणयन रूप अपने परिश्रम को सफल समझूंगा। ऐसा करके सर्वसाधारण न केवल सम्पूर्ण स्वास्थ्य और दीर्घ आयु प्राप्त करेंगे, प्रत्युत भारतीय प्राचीन सभ्यता के परम्परा-प्राप्त सरल जीवन और उच्च विचार के उत्तम आदर्श की ओर भी अपने पग बढा सकेंगे। सर्वनियन्ता जगत्पिता की कृपा से जनता के दुःख दूर हों यही मेरी मनोकामना है।

* समाप्त *